।। ॐ श्री विश्वेश्वराय नमः।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।। ॐ श्री चन्द्रमोहन सद्गुरुवे नमः

सद्गुरुदेव

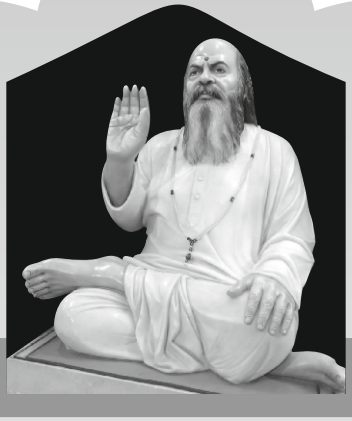

साक्षात्

योगयोगेश्वर अनन्तविभूषित सद्गुरुदेव
योगीराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के
स्वहस्त लिखित विशेषलेख
यौगिक प्रश्नोत्तरी एवं योगेश्वर चरित्रमाला

।। ॐ श्री विश्वेश्वराय नमः।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।। ॐ श्री चन्द्रमोहन सद्गुरुवे नमः

संस्थापक आशीर्वाद स्वरूप

योग योगेश्वर

श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्रकाशन स्थान

प्रभु रामलाल सिद्ध योग साधना भवन, 61– सी/1/121 जोंधवल
छुहारा हनुमान जी रोड, मेंहदौरी कालोनी, तेलियर गंज, प्रयागराज– 211004
मो. 9936678368

संपादक
श्री विनय मालवीय जी

स्वत्वाधिकारी :
श्री विनय मालवीय जी

लेख संकलन कर्त्ता :
श्री विनय मालवीय, श्री अन्तू राम यादव

लेखन व्यवस्था :
अम्बरीष मिश्र

साज–सज्जा
कनौजिया ग्राफिक्स (परमानन्द वर्मा)

प्रकाशक : मनोरथ पब्लिकेशन, जयपुर

नोट :— इस ग्रन्थ के संकलन, सम्पादन, प्रकाशन में किसी भी त्रुटि के लिए क्षमा प्रार्थी

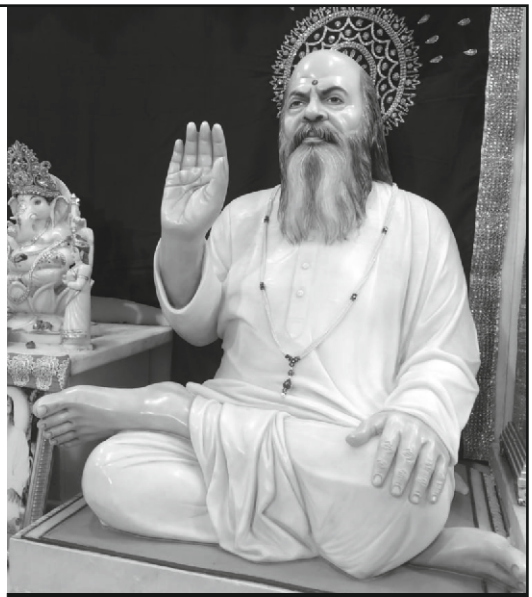

द्वितीय ग्रंथ

लेखन अवधि : अप्रैल 1977 से मार्च 1994 तक

सर्वाधिकार प्रकाशन हेतु सुरक्षित

प्रभु रामलाल सिद्ध योग साधना भवन, 61– सी/1/121 जोंधवल
छुहारा हनुमान जी रोड, मेंहदौरी कालोनी, तेलियर गंज, प्रयागराज– 211004
मो. 9936678368

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

दो शब्द

जैसा कि हम सभी, ''सिद्धयोग'' दरबार से जुड़े, भाई–बहन या भली–भाँति जानते हैं कि हमारे दादा–गुरुदेव योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज जन–कल्याणार्थ नेपाल–हिमालय से अनेक शरीर धारण करके इस धरा–धाम पर आये। धरा–धाम पर आने का मुख्य कारण था– श्री सदाशिव महाराज का आदेश। श्री सदाशिव महाराज, हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्रीरामलाल जी महाराज के गुरुदेव हैं। उनका यह आदेश था कि तुम पृथ्वी पर जाओ और अपने संस्कारी लोगों से जुड़े संस्कारों को भोग कर निपटाओ। संस्कारों को भोग कर निपटाने का आदेश इसलिए दिया गया था। क्योंकि संस्कारों को निर्बीज समाधि में काटकर निपटाने से संस्कारों को भोग कर निपटाना श्रेयस्कर है। महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने संस्कारों को भोगकर निपटाने का केवल मात्र निर्देशन (डिमांस्ट्रेशन) किया था, उस कार्य को अंजाम तक पहुँचाने का कार्य, उन्हीं की प्रतिमूर्ति हमारे प्राण–धन सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के गुरुदेव हैं परन्तु ये दो नहीं बल्कि एक ही है। हमारे चाचा गुरुदेव श्री पारसनाथ सिंह जी प्रायः यह कहा करते थे कि मैं तो धोखा खा गया परन्तु तुम लोग धोखे में ना रहना ''ये वही हैं।''

अर्थात् सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज, दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ही हैं। ये आज भी नेपाल–हिमालय की स्फटिक गुफा में विद्यमान हैं और कल्प के अन्त तक विद्यमान रहेंगे जैसा कि भुषुण्डि संहिता, काकनाड़ी, चेन्नई में अंकित है।

हमारे सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज सिद्धयोग पत्रिका का प्रकाशन अप्रैल–1968 से प्रारम्भ किया। उनके लीला संवरण (25 जून, 1990) के बाद से ही मन में बार–बार यह विचार आता रहा सिद्ध योग पत्रिका में प्रकाशित गुरुदेव के विशेष लेखों को एक जगह लिपिबद्ध किया जाय। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर सन् 1968 से सन् 1992 तक पच्चीस वर्षों की सिद्धयोग पत्रिकाओं को ढूँढ़कर इकट्ठा करने का कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य में मिर्जापुर के भाई श्री दूधनाथ जी, झाँसी के भाई श्री एस.सी. खरे जी, प्रयागराज के भाई श्री उपेन्द्र अग्रवाल जी और भाई अन्तूराम जी, भाई श्री आर. एन. राय का प्रमुख योगदान रहा। पत्रिकाओं से श्री सद्गुरुदेव जी के विशेष लेखों को फोटो स्टेट करना एवं उन्हें क्रमबद्ध तरीके से स्पाइरल बाईंडिग कराकर प्रकाशन के योग्य बनाने का सराहनीय कार्य भाई अन्तूराम जी द्वारा सम्पन्न किया गया।

सद्गुरुदेव भगवान के विशेष लेखों एवं प्रश्नोत्तरों को ग्रन्थ के रुप में लिपिबद्ध करने वाले सभी भाई साधुवाद के पात्र हैं। हम सबका मिला–जुला प्रयास आप के सम्मुख है। यह अद्भुत ग्रन्थ हमारे लिए एक अमूल्य धरोहर है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ हमारे लिए एवं हमारी आने वाली पीढ़ी के लिए एक आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में वरदान साबित होगा।

सादर जयगुरुदेव

श्री सद्गुरुदेव जी का एक अकिंचन बालक

विनय मालवीय

दिनांक 12, जून 2019

गंगा दशहरा, प्रयागराज

।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

योग योगेश्वर आनन्दकन्द सद्गुरु श्री चन्द्र मोहन जी महाराज

''ये वही ही हैं।''

अर्थात् हमारे सद्गुरु श्री चन्द्रमोहन महाराज ही हमारे परम् गुरु श्री रामलाल महाराज हैं।

हमारे अनेक ज्ञानी-ध्यानी वरिष्ठ गुरु भाइयों के अनुभव के आधार पर यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि ये वही ही हैं। भाइयों के अनुभव इस प्रकार हैं—

1. हमारे चाचा गुरुदेव बलिया निवासी आदरणीय श्री पारसनाथ जी ने एक बार हम सबके बीच अपना अनुभव सुनाया था— ''में तो भ्रम में रह गया। इन्हें (श्री चन्द्रमोहन जी महाराज) को केवल मात्र अपना गुरु भाई ही समझता रहा लेकिन तुम लोग भ्रम में रहकर धोखा मत खाना ''ये वही ही हैं।''

2. हमारे एक वरिष्ठ गुरु भाई जो सद्गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के परम लाडले एवं मुँह लगे बच्चे हैं, उन्होंने अपने अनुभव सुनाया था— ''एक बार सद्गुरु भगवान अपने प्रवचन के दरम्यान अचानक यह कह बैठे कि श्री प्रभु जी यानी श्री राम लाल जी महाराज इस समय भी अपने चार शरीरों से योग प्रचार कर रहे हैं। हमारे गुरु भाई जी गुरुदेव जी के पीछे पड़ गये कि गुरु जी बताइए कि वे किस-किस शरीर से और कहाँ-कहाँ प्रचार कर रहे हैं? उनके अत्यन्त हठ करने पर गुरुदेव ने कहा— अच्छा, जाओ गुफा में ध्यान में बैठ जाओ। ध्यान में हमारे गुरु भाई को गुरुदेव ने वाराणसी ने, गढ़मुक्तेश्वर में एवं वृन्दावन में करते हुए गुरुदेव ने नहीं दिखाया। हमारे गुरु भाई के मन में यह जिज्ञासा हुई कि वह चौथा शरीर कौन है जिससे हमारे परम् गुरु श्री रामलाल जी महाराज योग प्रचार कर रहे हैं। उसी समय आकाश वाणी हुई— ''ये ही यानी योगिराज श्री चन्द्रमोहन महाराज ही वह चौथा शरीर है जिसके द्वारा श्री रामलाल जी महाराज योग प्रचार कर रहे हैं।'' हमारे भाई तत्काल ध्यान से उठे और दौड़ कर गुरु भवन में गये जहाँ हमारे गुरुदेव विराजमान थे। गुरुदेव के चरणों में सिर रखकर हमारे गुरु भाई ने कहा— महाप्रभुजी को शत् शतृ प्रणाम। उनके ऐसा कहने पर गुरुजी ने कहा कि अरे! मैं तो तेरा गुरु हूँ, महाप्रभु जी नहीं। तब हमारे गुरु भाई ने कहा कि गुरुदेव आकाशवाणी की बात सत्य वाणी त्रिलोक में भी असत्य नहीं हो सकती। इसके बाद हमारे गुरु भाई ने ध्यान में हुई आकाशवाणी को बताया। तब गुरुदेव ने कहा— ''अरे, चल अपना काम कर'' ऐसा कहकर अपने को छिपा लिया।

3. एक बार हमारे एक वरिष्ठ ध्यानी गुरु भाई ने अपना अनुभव सुनाया— गुरुदेव कार में बैठ कर श्री सिद्ध गुफा से प्रचार हेतु कहीं जाने के लिए तैयार थे। सब लोग उन्हें प्रणाम करने के लिए कार के पास खड़े थे। हमारे गुरु भाई क्या देखते हैं कि गुरुदेव के स्थान पर कभी परमगुरु श्री रामलाल जी महाराज के रूप में बदल जाता है। अपने इस अनुभव को जब भाई जी ने गुरुदेव को सुनाया तो गुरुदेव ने कहा— ''लल्ला! ये सब एक ही है।''

4. एक हमारे गुरु भाई जो गुरु देव जी की व्यक्तिगत सेवा में लगे रहते थे। भोजन बनाना, स्नान कराना और कपड़ा धोना इत्यादि कार्य किया करते थे। भाई जी के मन में कुछ पूछने की जिज्ञासा बराबर बनी रहती थी परन्तु संकोच वश वे पूछ नहीं पाते थे। परम् अन्तर्यामी हमारे गुरु देव एक दिन भोजन करते समय पूछा लल्ला! तुम कुछ पूछना चाहते हो कन्या? भाई जी ने नकारात्मक उत्तर देते हुए अपनी जिज्ञासा प्रकट नहीं की। इसके बाद गुरुदेव ने कुछ गम्भीर मुद्रा में कहा- लल्ला! तुम हमें क्या समझते हो? गुरुदेव जी की गम्भीर मुद्रा को देखकर भाई जी ने कहा- गुरुदेव! मैं आप को सर्वज्ञ, अन्तर्यामी एवं परमगुरु श्री रामलाल जी महाराज का ही स्वरूप मानता हूँ। भाई जी की यह बात सुनकर गुरुदेव उनकी तरफ देखे और मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए भोजनालय से बाहर निकल गये।

5. जैसा कि गुरुदेव के प्रवचन एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हम सभी जानते हैं कि नेपाल हिमालय पर जब हमारे परम् गुरुदेव श्री रामलालजी महाराज, अपने गुरुदेव श्री सदाशिव महाराज के पास विराजमान थे, उस समय वहाँ एक प्रश्न उठा कि संस्कार भोगकर निपटाना श्रेयस्कर है अथवा समाधि में काट कर निपटाना श्रेयस्कर है? अन्ततोगत्वा निर्णय यह हुआ कि संस्कार भोग कर निपटाना श्रेयस्कर है। इसके बाद सदाशिव महाराज ने अपने शिष्य श्री रामलाल जी को आदेश दिया कि अब तुम पृथ्वी पर जाओ और अपने संस्कारियों के संस्कार भोग कर निपटाओ। वे अनेक निर्माण काय से इस धरा-धाम पर आये और संस्कारों को भोग कर निपटाने का केवल मात्र डिमांस्ट्रेशन किया। संस्कारों को पूर्ण रूप से भोगकर निपटाने के लिए उन्हीं में श्री चन्द्र दत्त के रूप में दूसरा शरीर धारण किया। यही चन्द्र दत्त जी, बाद में श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के रूप में अन्तिम स्वाँस तक संस्कारों को भोगकर निपटाने का कार्य सम्पन्न किया।

इस प्रकार अनेकानेक अनुभवों/तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि— ''ये वही ही हैं।''

सम्पादक

अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे उच्चतम विज्ञानवेत्ता सभी ऋषि–मुनियों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता को गा–गा करके बतलाया है। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि–आदि उच्चतम सन्तों ने अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य–जन्म की दुर्लभता को समझा–समझा कर कहा, किन्तु मन्द प्रारब्धवश इस उच्चतम चेतावनी को कोई भी समझ नहीं पाता। संसार में मानव जन्मधारी प्रत्येक प्राणी मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर उन्मत्त दिखलाई दे रहा है। परम विरक्त सन्त श्री भर्तृहरि जी ने संसार की इस दशा को देखकर अपने हार्दिक उद्‌गार निम्नाङ्कित श्लोक में कितने अच्छे ढंग से कहे हैं। पढ़ने से मालूम पड़ता है कि कलिकाल में मन्द प्रगति वाले मनुष्य की कैसी उन्मत्त दशा चल रही है।

आदित्यस्य गतागतैरहरहः
संक्षीयते जीवितं।
व्यापारैर्बहु कार्यभार गुरुभिः
कालो न विज्ञायते।।
ज्ञात्वा जन्म जरा विपत्ति मरणं।
त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिरां
उन्मत्त भूतं जगत्।।

अर्थात् रोज–रोज सूर्य के निकलने और छिप जाने से आयु का एक–एक दिन क्षीण होता जा रहा है। व्यापार और कार्यभार की अधिकता से समय का ज्ञान नहीं हो पाता। रोज–रोज मनुष्य जरा जन्म–मरण की सूचनायें पाता रहता है किन्तु फिर भी मन में कुछ भय उत्पन्न नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर मनुष्य पागल–सा हुआ घूम रहा है। यही कारण है अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म मदान्धों की तरह बीतता चला जा रहा है। किन्तु इसकी दुर्लभता की चेतावनी का स्मरण किसी को भी हो नहीं पाता।

मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ क्यों ?

हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है— अखिल आत्मा भगवान श्रीकृष्ठ ने अपनी श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के आठवें अध्याय के पाँचवें छठे श्लोक में एक सिद्धान्त का निरूपण किया है। जो इस प्रकार है—

अन्त काले च मामेव,
स्मरन्मुक्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति,
नास्त्यत्र संशयः।।
यं यं वापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भाव भावितः।।

अर्थात् अन्तिम समय में मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर त्यागता है वह मेरे को पा जाता है। इसके अतिरिक्त वह निश्चित सिद्धान्त की बात बतला दी कि अन्तिम समय में जिन जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है उन–उन भावों की प्रेरणा से ही ही वह मनुष्य वैसी वैसी गति को लक्ष्य में रख करके भगवान अर्जुन को यह आदेश भी देते हैं कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु, मामनुस्मर युध्य च।

अर्थात् उपरोक्त सिद्धान्त पर नजर रखते हुये है अर्जुन! तू हर समय मेरा स्मरण करता हुआ लड़ाई कर। ताकि प्राण विमोक्ष का कोई समय आ भी जाय तो अन्तिम मति के अनुसार तू मुझको पा जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम क्षणों में जिन–जिन भावों का स्मरण करते हुए मनुष्य शरीर छोड़ता है वैसी ही गति को पा जाना उसके लिए अनिवार्य है। हमारे प्राचीन इतिहास में उदाहरण रूप से इस प्रकार की अनेक घटनायें भी मिलती हैं। श्रीमद्‌भावगत पुराण में महा मुनि जड़ भरत का उपाख्यान मिलता है, वह एक महान तपस्वी योग–ध्यान–परायण मुनि थे। उन्होंने आश्रम में एक मृग के बच्चे को पाल लिया, जिसका परिणाम यह निकला कि अन्तिम प्राण प्रयाण के समय भी उनको उस मृग–बच्चे की याद आती रही जिससे वह मृगी के पेट में जा गिरे। जिसका उनको बड़ा भारी दुःख हुआ और उसका कारण अन्तिम समय में मृग–बच्चे का चिन्तन ही समझा। इसी दृढ़ धारणा को लेकर उन्होंने शुभ गति पाने के लिए अपने मृग–शरीर का परित्याग कर दिया।

एक और सच्ची घटना

आदरणीय ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी महाराज मेरे बड़े गुरु भाई थे, वे ऊँची स्थिति के महात्मा थे। उनको अपने ध्यान-योग के अतीतानुगत प्रभाव से अतीतानागत ज्ञानकी योग्यता थी। एक बार उनके मन में विचार पैदा हुआ कि वह अपनी माता की गति को जानें उनका जन्म कहां हुआ है, इन्हीं भावों का चिन्तन करते हुए वे ध्यानस्थ हो गये। ध्यानलीन हो जाने के बाद वह अपनी आँखों के सामने देखते हैं कि किसी मछियारे की छोटी लड़की कुछ मछलियाँ हाथ में उठाये आ रही है। ज्योंही उन्होंने इस बालिका को देखा, त्योंही ध्यान में ही आकाशवाणी हुई कि बेटा! यह तेरी माँ है, इसको देख ले। यह सब दृश्य देखकर श्री ब्रह्मचारी जी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि मेरी माता की ऐसी गति क्यों हुई? उन्होंने ध्यानाभ्यास से उठकर अपना यह सब अनुभव प्रत्यक्ष में श्री प्रभुजी के चरणार्विन्द में (योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के चरणा कमल में) निवेदन किया कि मैंने अपनी माता की ऐसी गति देखी है, ऐसा क्यों? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि हमें क्या पता, तेरी माताको अन्तिम समय में मछलियों का स्मरण आया होगा। इस विषय में तुम अपनी बहन रुक्मिणीदेवी से पूछो कि तुम्हारी माता की मृत्यु किस रोग में किस कारण से हुई थी। उससे तुम्हें पता चल जायेगा कि उसका अन्तिम चिन्तन क्या रहा था, जिसके कारण उसका जन्म मछियारे के घर में हुआ। श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी बहन रुक्मिणदेवी से जाकर पूछा कि बहन! माँ की मृत्यु कैसे हुई थी? उसने उत्तर दिया कि भाई! मृत्यु काल में माँ के पेट में बड़ा भारी अफारा (उदराध्यमान) हो गया था, उसके बाद हम लोगों ने बड़े-बड़े इलाज कराये, किन्तु उनसे किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हुआ। अन्त में एक डाक्टर ने बतलाया कि यदि इनको मछली का तेल पिला दिया जाय तो इनके पेट का तनाव कम हो जायगा और जीवन बच सकता है। डॉक्टर के ऐसे आदेश को पाकर मछली को तेल लाने के लिए काफी कोशिश की गई, किन्तु सफलता नहीं मिल सकी। वह बार-बार मछली के तेल को याद करती रहीं एवं उसी चिन्तन में उसके प्राण निकल गये। श्री ब्रह्मचारी जी की समझ में आ गया कि बात ठीक ही है—

यं यं वापि स्मरन्भावं,

त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवेति कौन्तये,

सदा तद्भाव भावितः।।

हमारा यह मनुष्य लोक रजोगुण प्रधान है। मनुष्य अपना सारा जीवन इधर-उधर के कार्य-कलापों में व्यतीत किया करता है। शरीर जर्जरीभूत हो जाता है, नाड़ियां फूल जाती हैं। प्रायः हर व्यक्ति का अन्तिम समय बहुत ही दुःखमय होता है। प्राणों के निष्काशन के समय वह केवलमात्र दुःख का ही चिन्तन करते हुए देहत्याग करता है। अन्तिम समय कष्ट होना पाप-कर्म का भोग होता है। क्लिष्ट संस्कारों के भोग-भोगते हुए क्लेशात्मक चिन्तनों के कारण वह इस मनुष्य शरीर को छोड़कर दुःख देने वाली निकृष्ट योनियों को प्राप्त हो जाता है। यह सबकी-सब भोग योनियां हैं। शुभ चिन्तन का उन योनियों में मौका ही कहाँ हो सकता है। अतः एक योनि छोड़कर दूसरी, दूसरी छोड़कर तीसरी, इसी प्रकार क्रमशः भोग योनियाँ प्राप्त होती रहती हैं। बहुत ही कठिनता के साथ पुनः कोई पुण्य मिल पाता है। कैसा मिलेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। मनुष्य जन्म मिल गया, किन्तु मिला किसी हत्यारे के यहां— शराबी-कबाबी के यहां, चोर और डाकुओं के यहां तो उस मनुष्य जन्म का क्या फायदा। अथवा मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेने के बाद कोई घोर रोग लग गया, तो भी क्या लाभ? उत्तम बात तो यही है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं,

यावच्च दूरे जरा।

यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता,

यावत्क्षयो नायुषः।।

आत्मश्रेयसि तावद्धेव,

विदुषा कार्य प्रयत्नो-

महान्प्रोदीप्ते भवने च कूप,

खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है। इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है एवं आयु क्षीण नहीं हुई है, तब तक अपने भले का प्रयत्न कर लेना चाहिए। घर में आग लग जाने के बाद कुआँ खोदने का पुरुषार्थ व्यर्थ है। अतः मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य जन्म की दुर्लभता को समझे और जो भी वह शुभ कर्म कर सकता हो करे। मनुष्य जन्म-कर्म योनि है, इसमें कर्म किया जा सकता है। अन्य सब भोग-योनि हैं, उनमें अपने भविष्य निर्माण के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। अतः मनुष्य जीवन की दुर्लभता को समझ कर अपने भले के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। एक प्रकार का यह मनुष्य जीवन परीक्षा भूमि है। परीक्षा पत्र अच्छे हो गये, तो परिणाम शुभ हो जायेगा। अतः मनुष्य जन्म दुर्लभ की चेतावनी को स्मरण रखना चाहिए।

यौगिक व्यायाम और आसन्नों का महत्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(हमारे प्रतिनिधि द्वारा)

(कलकत्ता यौगिक सङ्घके रजत-जयन्ती समारोह में श्री सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का 'यौगिक व्यायाम और आसनों के महत्व' पर जो उल्लेखनीय महत्वपूर्ण भाषण हुआ था, उसका सार अंश हम यहां 'सिद्धयोग के पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित कर रहे हैं।')

—सं. सम्पादक

कलकत्ते का 'यौगिक सङ्घ' योगाङ्गों के प्रशिक्षण की एक सुविख्यात संस्था है जिसका संचालन और नियन्त्रण वहां के सुपरिचित समाजसेवी सुनागरिक वयोवृद्ध श्री राधाकृष्ण जी नेवटिया के निर्देशन में अन्य अनेक योग-प्रेमी साधकों के सहयोग से होता है। श्री महाराज जी इसी सन्दर्भ में कलकत्ता गये थे जहां वे ६ से १२ अप्रैल तक विविध उपादेय कार्यक्रमों में संलग्न रहे। देश के प्राय: सभी ख्याति प्राप्ति योगियों और योगाचार्यों को सादर आमन्त्रित करके यहां बुलाया गया था। सभी योगाचार्यों ने योग और यौगिक जीवन के महत्व और उपादेयता पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये थे।

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज को भी जयन्ती समारोह में सम्मिलित होने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ था तथा विशेष रूप से सम्मेलन में पहुँचने का व्यक्तिगत रूप से भी उनसे आग्रह व अनुरोध किया गया था।

श्री महाराज जी यद्यपि आश्रम सम्बन्धी कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थे, फिर भी श्री नेवटिया जी तथा कलकत्ता निवासी अपने अन्य अनेक योग-साधक शिष्यों के अनुरोध एवं आग्रह को स्वीकार करके वे आश्रम से चलकर ६ अप्रैल को प्रात: कलकत्ता जा पहुँचे थे। उनके साथ आश्रम के कतिपय ब्रह्मचारी तथा संगीत-रत्न योग-प्रचारिका सुश्री उमा शर्मा भी थीं। अपने आगमन की सूचना श्री महाराज ने अपने कार्यालय से पहले ही योगिक संघ के अधिकारियों तथा कलकत्ता की श्री सिद्धगुफा शाखा के कार्यकर्त्ताओं को भिजवा दी थी। अत: हवड़ा स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ यौगिक संघ के कार्यकर्त्ता अधिकारी तथा श्री महाराज जी के अपने साधकों और शिष्यों की भारी भीड़ मेल-ट्रेन से वहां उनके पहुँचने से पहले ही जमा हो चुकी थी। श्री महाराज जी के ट्रेन से उतरते ही उन्हें फूल-मालायें पहनाकर सम्मानित किया गया तथा योगयोगेश्वर की जय तथा महाप्रभु श्री रामलाल की जय-जयकार से प्लेटफार्म गूँज उठा। आदर और सम्मान के साथ उन्हें स्टेशन से ले जाकर वहां ठहराया गया, जहां पहले से ही उनके आवास की व्यवस्था की गई थी। यह आवास-व्यवस्था ढीवरे वालों की धर्मशाला में की गई थी, जो श्री सुभाषचन्द्र बोस के बँगले महाजारती भवन और सन्मार्ग प्रेस के बीच में थी। श्री महाराज जी ने सम्मेलन के कार्यक्रमों में दो दिन भाग लेकर श्रोता-समूह को अनुग्रहीत किया।

श्री महाराज जी ने अपने पहले दिन के भाषण में यौगिक-संघ के साधकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि कलकत्ता में यौगिक-संघ ही एकमात्र ऐसी संस्था है जिसके सैकड़ों साधक नित्य नियम से चालीस चौरंगी रोड़ पर सामूहिक रूप से अपनी साधना करते हैं। मुझे साधकों का उत्साह, लगन, नियमानुवर्तिता और आसन करने की पद्धति को देखकर बड़ी भारी प्रसन्नता हो रही है। आगे आपने बताया कि योगासन करने की नियमानुवर्तिता का अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि इन सभी साधकों की नाड़ी शुद्धि हो जायगी तथा मन की एकाग्रता होना भी स्वत: सम्भव है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का वीर्य-कोश नाभिमण्डल है और यौगिक आसनों की व्यायाम पद्धति ऐसी होती है जिसके परिणामस्वरूप वीर्य स्वत: ही ऊर्ध्वगमन करता है। साथ ही वह नाड़ियों में व्यापक हो जाया करता है। इस प्रक्रिया का एक बड़ा लाभ यह होता है कि ऐसे साधक को कामादि वासना नहीं सताती, वह परम तेजस्वी हो जाता है तथा उसकी पांचों ज्ञानेन्द्रिय शक्ति से वर्षा करने लगती है। इस प्रकार से साधक शक्तिवान बनकर संसार में यश और कीर्ति का भागी बनता है तथा सर्व साधारण को अपने पुरुषार्थ व पराक्रम पूर्ण कार्यों से आश्चर्यचकित कर दिया करता है।

योगासनों का ऐसा नियमित अभ्यास साधक को अन्तर्मुखता की ओर ले जाता है अर्थात् वह अन्तर्जगत में प्रवेश करने लगता है और थोड़े ही समय में उसकी स्थिति इस प्रकार की बनने लगती है कि साधक के

हृदय कोश की अन्तर्गुहा में निहित सर्व व्यापक परमात्मा की सहायता मिलना उसे सम्भव हो जाती है और स्वत: ही उसे अन्तर्भूमिकायें प्रकट होने लगती हैं। साधक को यह प्रतीत होने लगता है कि यह अन्तर्भूमि है तथा इसके बाद की यह और इसके बाद की भूमिका यह है।

श्री महाराज जी ने एक बार फिर अपने इस विचार को दुहराया कि योगासनों को निरन्तर नियमानुसार करने से ही साधक योग के परम तत्व समाधि को प्राप्त करने में सफल हो पाता है, अत: साधकों को नियमानुवर्तिता का पालन करना चाहिए।

अन्तिम दिन श्री महाराज जी का उपसंहारिक भाषण हुआ, जिसमें आपने बताया कि संसार में मानव समाज के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण का मार्ग केवल योग-मार्ग ही है। इसी का अनुसरण करके वह नि:श्रेयस और अभ्युदय की प्राप्ति कर सकता है। यदि मानव का नैतिक और चारित्रिक उत्थान अभीष्ट है तो ऐसा योग के यम-नियमों से परिपालन से ही सम्भव हो सकता है। अत: सद्गुरुओं के निर्देशन में योग-धर्म के प्रचार की आज अत्यधिक आवश्यकता है। कलकत्ते का यौगिक सङ्घ इस मार्ग का अनुसरण कर रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। सङ्घ के सञ्चालक वयोवृद्ध श्री नेवटियाजी और उनके अनेक साधक साथी इस प्रयास के लिए प्रशंसा बधाई और हम सबकी शुभ-कामना के पात्र हैं।

सम्मेलन में आये अन्य योगाचार्यों ने भी अपने विचार व्यक्त किये तथा तभी आगत योग-प्रचारकों का परिचय कराया गया।

श्री महाराजजी के साथ गईं उनकी परम कृपापात्र शिष्या सुश्री उमा शर्मा ने योग-परक गायनों से सम्मेलन के सभी श्रोताओं को भाव-विभोर बनाया। श्री कबीर का एक प्रसिद्ध पद जिसमें खेचरी-मुद्रा के वर्णन पर विशेष रूप से सराहा गया।

सम्मेलन की समाप्ति के बाद श्री महाराज जी सम्मेलन के आयोजकों एवं अपने कलकत्ता के निवासी अनेक शिष्यों से भाव भीनी विदाई लेकर १३ अप्रैल को आश्रम वापिस आ गये।

श्री महाराज जी जिस डीलक्स ट्रेन से कलकत्ता से चले थे, उसी में बनारस से केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री राजनारायण जी दिल्ली चलने को सवार हुए। स्वास्थ मन्त्री ने बनारस से टूण्डला तक का सभी समय श्री गुरुदेव जी के सम्पर्क में बिताया। बनारस में उनके पहुँचने पर घटित घटना का वर्णन सुनकर श्री महाराज जी ने उन्हें परामर्श दिया कि उन्हें सदा अपने अंग-रक्षकों के साथ ही चलना चाहिए। टूण्डला पर श्री महाराज जी ट्रेन से उतर कर सँवाई आश्रम के लिए तथा स्वास्थ्य मन्त्री श्री राजनारायण जी दिल्ली को रवाना हो गये।

योग एवं ऊर्ध्वरितसता

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमारे भारतवर्ष के इतिहास में ब्रह्मचर्य आश्रम का बहुत बड़ा उत्कृष्ट वर्णन मिलता है। ब्रह्मचारी किसको कहते हैं? इस विषय में लोगों के भिन्न–भिन्न प्रकार के विचार हैं, किन्तु पाणिनि व्याकरण के अनुसार— 'ब्रह्मणि चरितम् शीलमस्यास्ति य स ब्रह्मचारी' अर्थात् परमात्मा में विचरने की जिसकी आदत पड़ गई है वह ब्रह्मचारी कहलाता है, किन्तु ब्रह्म में विचरने का स्वभाव हर व्यक्ति का नहीं हो सकता। ब्रह्म में विचरण वही कर सकता है जिसके मन व बुद्धि सूक्ष्म पदार्थ को ग्रहण करने वाली योग्यता वाले बन गये हों। ऐसी मन व बुद्धि तभी बन सकती है, जब वीर्य धारण करने से उपयुक्त साधन करते हुए ऊर्ध्वरितसता प्राप्त हो गई हो। षट चक्रों के अन्दर मणिपूरक नाभि का एक चक्र है। मणिपूरक चक्रका स्थान नाभि मण्डल है, नाभि–मण्डल ही वीर्याशय यानी वीर्य का स्थान है। मनुष्य के मन में जब किसी प्रकार की काम वासना का उदय होता है तो कामाग्नि की उष्णता से वीर्य सारे शरीर से आकर्षित होकर स्खलन की ओर जाता है। आयुर्वेद के परमाचार्य श्री वाग्भट्टजी ने वीर्य को वपुसार, जीवनाशय, गर्भ बीज आदि नामों से उद्घोषित किया है।

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं,
बलं पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भबीजं वपुः सारो,
जीवनाश्रय उत्तमः।।

अत: इसका सारे शरीर में व्यापक रहना जीवनधारियों के लिए बहुत ही आवश्यक है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का व्यायाम नहीं करते हैं और केवल अकर्मण्य बनकर रहा करते हैं, खट्टे मीठे पदार्थ खाते रहते हैं, उनके मन में काम–वासना बढ़ती रहा करती है। खाली बैठा रहने से मन में कुभावनायें आती हैं और शनै: शनै: कुकर्म चेष्टायें बनने लगती हैं, जिससे मनुष्य उन्नति के लिए प्राप्त हुए अपने पवित्र जीवन को पतन की ओर ले जाने का कारण बन जाता है। इसलिये वीर्य को ऊर्ध्वरेतस बनाने से पहले साधक को ऐसा प्रयत्न कर लेना चाहिए कि वपुसार जीवनाश्रय वीर्य को सारे शरीर में व्यापक कर डाले। वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिए बहुत ही आवश्यक है कि मनुष्य व्यायाम की आदत डाले। व्यायाम करने के जितने प्रकार आजकल भारत व दूसरे देशों में व्यापक हैं, वे सब मनुष्यकृत होने के नाते अधिक लाभदायक नहीं हो पाते। ऐसे सभी व्यायाम शारीरिक जड़ता के दाता हैं। यह वीर्यं को शरीर में व्यापक तो बनाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव समान रूप से सभी अंगों पर बराबर नहीं पड़ता। स्नायु कहीं–कहीं तो बहुत ही दृढ़ हो जाते हैं जिससे सारे शरीर में रस व रक्त का समान रूप से वहन नहीं हो पाता। जो व्यायाम हमारे पूर्वज योगाचार्यों ने अपने ग्रंथ में लिखे हैं, वे सभी उनके ऋतंभरा प्रज्ञा की उत्तम देन हैं और यह सभी व्यायाम स्नायु–मण्डल को कोमल रस और रक्त का ठीक तरह से वहन करने वाले एवं मन की एकाग्रता के दाता हैं। अत: शरीर को रोग रहित हल्का, फुर्तीला, ओज–तेज, प्रधान एवं वीर्य को शरीर में व्यापक बनाने के लिए उत्तमोत्तम हैं। जो लोग किसी भी योग–शिक्षण केन्द्र में जाकर नियमानुवर्तिता से योगासनों का अभ्यास करते हैं, उनका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। कामोद्दीपक भावनायें स्वत: ही शान्त होने लगती हैं। मन आत्म–चिन्तन की ओर बढ़ने लगता है। योगासनों का व्यायाम सभी प्रकार से उतम है, किन्तु वीर्य को शरीर में व्यापक बनाये रखने के लिए उदर सम्बन्धी आसनों का अभ्यास बहुत ही आवश्यक हो जाता है। जैसे उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, नावआसन, नाभ्यासन, धनुरासन, शलभासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन आदि आदि। ये सभी आसन पेट से सम्बन्ध रखने वाले हैं। योग–शिक्षण केन्द्रों में नियमानुसार सभी आसन कराये जाते हैं। पहले अभ्यासी लोग खड़े होने के आसन करते हैं उसके बाद बैठने–लैटने के आदि आदि। जैसा भी क्रम यहाँ समझाया हुआ होता है वैसा ही करते हैं।

उपरोक्त विधि के अनुसार वीर्य शरीर में व्यापक तो हो ही जायेगा, किन्तु ऊर्ध्वरेतसता प्राप्त करने के लिए कुछ खास–खास अभ्यास हैं जिनका दिग्दर्शन इस लेख में हम नीचे की पंक्तियों में कर रहे हैं।

हमारे योगाचार्यों ने 'सिद्धासन' को सर्व–सिद्धियों का दाता बतलाया है। 'सिद्धासन' की एक विशेषता यह है कि उसके करने से मनुष्य स्वाभाविक ही संयतेन्द्रिय बन जाता है क्योंकि सिद्धासन के लगाने से वीर्यवाहिनी नाड़ी संकुचित हो जाती है और उन नाड़ियों के दब जाने से वीर्य का अधोवेग रुककर ऊर्ध्ववेग बन जाता है। 'सिद्धासन का' प्रकार योगाचार्य भगवान सदाशिव ने शिवसंहिता में इस प्रकार बतलाया है:

योनिं संपीड्य यत्नेन,

पादमूलेन साधकः।

मेढ्रोपरि पादमूलं,

विन्यसेत योगवित्सदा।।

ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं,

निश्चलः संयतेन्द्रियः।

विशेषोऽवकाश्च,

रहस्यद्वेगवर्जितः।।

एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं,

सिद्धानां सिद्धिदायकम्।।

अर्थात् अपने बायें पैर की एड़ी को अण्डकोषों के नीचे योनि-स्थान में (जिसको सींवनी कहते हैं) ले जाकर दृढ़ता के साथ जमा दो। पीछे गुदा-द्वार के नीचे कोई कपड़ा या कपड़े की साधारण सी गद्दी रख दो जिससे लिंगनाल को दबाने में वह गद्दी सहायक हो जाय। इस प्रकार बायें पैर की एड़ी को योनि-स्थान में दृढ़ता से जमाकर दूसरे दाहिने पैर की एड़ी को लिंगनाल के ऊपर जमाकर रखो। दोनों पैरों के टँखने परस्पर मिले हुए हों। एक पैर लिंगेन्द्रिय के नीचे योनि-स्थान में हो और दूसरा लिंगेन्द्रिय के ऊपर जमा हुआ हो। इस विधि से नीचे बैठ जाओ। अपने मेरुदण्ड को सीधा रखो। दोनों हाथों को तनाव के साथ घुटनों पर रखो एवं दृष्टि को भूमध्य ले जाओ, थोड़ी सी झुकी हुई हो। मन में कोई भी उद्वेग न हो। इसको योगाचार्यों ने सिद्धासन कहा है। केवल मात्र जो लोग सिद्धासन का अभ्यास करते रहते हैं उनके भी मनोविकार शांत हो जाते हैं और वीर्य की अधोगति रुक करके वेग ऊपर की ओर बढ़ने लगता है इसके साथ एक विशेष प्राणायाम करो। इस प्रकार बैठ जाने के बाद अपने प्राणवायु को वेग के साथ बाहर निकाल दो। उड्डियान बंध के साथ आधार चक्र को ऊपर की ओर खींचो और प्रावायु को रोक दो। आधार-चक्र खींचे रहो। अपने मन में धारणा करो कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर खींच रहा हूँ। अनुभवी सन्तों ने इस प्राणायाम में लिंगेन्द्रिय को ऊपर की ओर खींचने की भी विधि लिखी है, किन्तु नाभि-मण्डल के नीचे की नाड़ियों को अपने हाथ की हथेली से ऊपर की ओर तनाव देकर रखोगे तो भी परिणाम वही निकलेगा। अपने पेट की वायु को बाहर निकाल देने पर उसको यथाशक्ति बाहर रोके रहना चाहिए। जब घबराहट मालूम पड़े तब धीरे-धीरे उस वायु को अन्दर ले लो, किन्तु अन्दर रोकने का अभ्यास नहीं करना चाहिए, वर्षों तक योग साधक यदि इस प्राणायाम को करता रहता है, तो वह अवश्य ही ऊर्ध्वरेतस बन जाता है। उसका वीर्य ऊर्ध्वगमन करने लगता हैं और वह बिन्दुजय कर लेता है।

सिद्धेबिन्दु महायत्ने किं न सिद्धयति भूतले।

अर्थात् बिन्दुजय प्राप्त करने के बाद ऐसा कोई साधन नहीं जिसको मनुष्य न कर सकें। योग-दर्शन ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा का फल बतलाता है :—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यं लाभः

यस्य लाभादप्रतिघात् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनियेषु ज्ञानुमाघातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मचर्य धारण करने से योगी अपने शरीर में अलौकिक गुणों का आकर्षण कर लेता है और शनैः शनैः उसकी मन-बुद्धि का इतना ऊँचा विकास हो जाता है कि उसे अपने विनीत शिष्यों के अन्दर शक्ति-संचार करने की योग्यता बढ़ जाती है। इसलिये उपरोक्त साधनाओं द्वारा साधक को अपने आपको ऊर्ध्वरेतस बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य योग साधनों में शक्तिचालिनी मुद्रा जो वज्रासन के अभ्यास से की जाती है वह भी ऊर्ध्वरेतसता की जननी है। शक्ति-चालिनी मुद्रा के अन्दर विपरीत पाद वज्रासन लगा करके भस्त्रिका प्राणायाम किया जाता है, जिसके फलस्वरूप कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण एवं वीर्य का ऊर्ध्वाकर्षण अनायास होता है।

शीर्षासन एवं ऊर्ध्वरेतसता

शीर्षासन हमारे योगाचार्यों की अमर देन है। विपरीतकरणी मुद्रा के रूप में भी बतलाया गया है। जो लोग नियम से विधिपूर्वक शीर्षासन का अभ्यास करते हैं। उनका वीर्य भी ऊर्ध्वगमन करने लगता है। किन्तु शीर्षासन के अभ्यासियों को चाहिए कि इस विपरीतकरणी मुद्रा को किन्हीं योग-शिक्षण केन्द्रों में जाकर सीखें। शीर्षासन के अभ्यासी लोगों को मस्तिष्क के ऊपर वाला भाग जिसको कपाल कहते हैं, वही जमीन में लगाना चाहिए और अपने आहार का ख्याल रखना चाहिए। इसके अभ्यास के लिए शास्त्रीय लेख हैं :—

अधः शिराश्चतोर्ध्वपादः, क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने-दिने।।

वलितं पलितं चैव, षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्सतुकालजित्।।

अर्थात् पहले दिन एक क्षण के लिए शीर्षासन करना चाहिए। दूसरे दिन कुछ एक क्षण से अधिक बढ़ाये। इस प्रकार बढ़ाते-बढ़ाते महीने भर में २ या ३ मिनट तक ही बढ़ाना चाहिए। शीर्षासन के अभ्यासी योगी को भूखा नहीं रहना चाहिए।

अन्तर्मुखता का साधन मौन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अन्तर्विज्ञान के वेत्ता हमारे ऋषि–मुनियों ने अपने अनुभव के आधार पर लिखे अपने सद्ग्रन्थों में अपनी विविध प्रकार की साधनाओं का वर्णन किया है। सभी साधनाओं का लक्ष्य एक ही है कि साधक येन–केन उपायेन अन्तर्जगत में प्रवेश करे और वहां के अध्यात्म दृश्यों को देखकर बाह्य जगत के सम्बन्ध को तोड़ ले। कठोपनिषद् के तृतीय बल्ली में नचिकेता को उपदेश देते हुए यमराज ने बिल्कुल सीधे और स्पष्ट शब्दों में यह आदेश दिया है—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभू:,
तस्मात्पराङ् पश्यतिनान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षत्,
आवृत्त चुक्ष: अमृतत्वमिच्छन्।।

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसलिए वे बाह्य–जगत में ही प्रवृत्त रहती है, अन्तर्जगत में प्रवेश नहीं करतीं। अन्तर्जगत में प्रवेश करने की इच्छा वाला कोई बिरला साधक इनको अन्तर्जगत की ओर मोड़ करके ही उस प्रत्यक्ष आत्मा को देख पाता है। इसलिए अन्तर्जगत में प्रवेश की इच्छा करने वाले हमारे आचार्यों ने अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखता की ओर झुका करके ही शान्ति लाभ की और अमृत्व को पा सके।

अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने—

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्

कह करके मौनकी महत्ता का संकेत किया है। गुह्य शब्द का अर्थ है जो लोग अन्तर्निधि को प्राप्त कर चुके हैं, वही छिपे हुए हैं, गुह्य हैं, गुप्त हैं। उन लोगों की स्थिति–समुद्रपान करके भी ओठ सूखे दिखलाने वाली है।

हमारे शास्त्रों में दो प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है– एक तो वे लोग हैं जो स्वत: सिद्ध हैं। अर्थात् जो अनादिकाल से सिद्ध ही चले आते हैं। दूसरे वे हैं जिन्होंने साधन के बल पर सिद्धियां प्राप्त की हैं। मौन भी अन्तमार्ग के साधकों की एक गुह्य साधना है जो उनके अन्तर्निधि की रक्षा करती है। हमारी अध्यात्म जगत की शक्ति इन्द्रियों की बहिर्मुखता के द्वारा ही बाह्यजगत में प्रसारित होती है। इन्द्रियों का वेग इतना प्रबल होता है जिसके लिए अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्णको अर्जुन को समझाते हुए यह शब्द कहने ही पड़े, कि—

यततोह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मन:।।

अर्थात् हे अर्जुन! बड़े–बड़े बुद्धिमान व्यक्ति अपने मन को सम्भाले रखने का पूरा–पूरा प्रयत्न करते हैं, किन्तु इन्द्रियों का वेग इतना प्रबल है कि उन बुद्धिमान विद्वानों को भी पीस डालता है।

तानि सर्वाणि संयम्य, युक्तासीत्मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

अर्थात् जो योगी उन सब पर नियन्त्रण करके मेरी उपासना करता है और शनै:–शनै: अभ्यास के बल से इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह प्रतिष्ठित बुद्धि वाला बन जाया करता है।

अत: बुद्धि के प्रतिष्ठान के लिए और वर्षों के लम्बे अभ्यास के द्वारा प्राप्त अन्तर्जगत के ऐश्चर्य की रक्षा के लिए साधक को चाहिए कि वह अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण करें। मनुष्य के मन में यदि किसी के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है तो वह अपने मन के उद्वेग को रोक नहीं पाता प्रत्युत कटु शब्दों का उच्चारण करके उसको अभिशाप दे डालता है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि साधक की अपनी शक्ति का क्षय तो होती ही है, प्रत्युत दूसरे को भी भारी दण्ड मिल जाता है, जिससे वह अनेक प्रकार की यातनाओं को भोगता है। जिसके फलस्वरूप शाप के देने वाला स्वयं भी एक पाप को कमा लेता है और इससे उसकी अन्तर्साधना में भारी अन्तराय उपस्थित हो जाता हे। इसलिए साधक को चाहिए कि अपनी अन्तर्निधि की रक्षा के लिए मौन का अभ्यास करें एवं अपनी सहनशक्ति को बढ़ाये, जिससे उसका अन्तर्विकास भी उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाये। उत्तम तो यही है कि योगी के मन में किसी भी प्रकार का विकार पैदा ही न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब साधक एकान्त स्थान में रह करके तप, स्वाध्याय एवं योगाभ्यास के द्वारा अन्तर्प्रकाश को पैदा कर ले, जिससे मन में हर समय शान्ति, आनन्द एवं प्रफुल्लता बनी रहे, तभी उसके अन्दर मौन धारण करने की योग्यता भी आ सकती है अन्यथा मौन भी मिथ्याचार का रूप धारण कर लेगा। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से लोगों को मिथ्याचारी कहा है जो कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके मन से उनके विषयों का चिन्तन करते रहते हैं यथा—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान विमूढ़ात्मा, मिथ्याचार: स उच्यते।।

इसलिए मनुष्य कौ मौन तो रहना चाहिए किन्तु उसको अभ्यासशील होना भी बहुत आवश्यक है। अभ्यासशील साधु अपनी जिह्वा पर कन्ट्रोल करके यदि मौन रहेगा तो उसका वह मौन भी उसकी अन्तर्मुखता का एक विशिष्ट साधन बन जायेगा। उसकी अन्तर्निधि भी बढ़ती चली जायेगी एवं मौनं चैवास्मि गुह्यानां के अर्थ को वह भली प्रकार समझ जायेगा। तब उसके मन में यह धारणा स्वाभाविक ही बन जायेगी :—

सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत।।

योगाभ्यासी श्री मानिकचन्द दलाल

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगयोगेश्वर प्रभु जी रामलाल जी महाराज के असंख्य पावन चरित्रों का वर्णन करना मेरे जैसे साधारण प्राणी के लिए उतना ही दुर्गम है जितना कि छोटी-सी डोंगी के अवलम्बन से दुस्तर सागर को पार करना। अथवा उन परम कृपा निकेतन श्री प्रभु जी के चरण-कमलों को हृदय में धारण करके उन्हीं की कृपा-शक्ति एवं प्रेरणा से निजानुभूति-रूप में यह छोटी-सी घटना जन-साधारण के हितार्थ लिखने का आयोजन कर रहा हूँ। यद्यपि इस घोर कलिकाल में सहज श्रद्धा विश्वास करने वाले प्राणी अति अल्प हैं, फिर भी श्रद्धालु, जिज्ञासु समुदाय के लिए यह चरित्र बड़ा ही प्रेरक एवं योग-मार्ग में श्रद्धा दृढ़ करने वाला सिद्ध हो सकता है।

अपनी लगभग १४-१५ वर्ष की आयु में जब मैं अमृतसर में विद्याध्ययन किया करता था, मेरे गुरु-भाई ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी और श्रद्धेय श्री मुलकराज जी एक बार अमृतसर में आये। श्री गोपालनन्द जी के दर्शन इससे पूर्व मैं ऋषिकेश में अपने दीक्षा-काल में कर चुका था। अत: इन महानुभावों के आगमन जी सूचना पाकर मैं उनके दर्शनों को उत्सुक हुआ। ये दोनों महात्मा अमृतसर रेलवे-स्टेशन के समीप ही गागरमल की धर्मशाला में ठहरे हुए थे। मैं वहां पहुंचा और बड़े गुरु-भाई होने के नाते उन दोनों को प्रणाम करके बैठ गया। ब्रह्मचारीजी उस समय ध्यानस्थ थे। थोड़ी देर बाद मेरे सामने ही इस प्रकार कहते हुए वे ध्यान से उठे— 'हे प्रभो, हे करुणा-सागर, हे दीनबन्धु! आप-आप ही हैं। उस प्रेम-भाव के आवेग में गीता के यही वाक्य बार-बार उनके मुख से निकल रहे थे—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: कुतोऽन्यो,
लोकेत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।

उन्हें प्रेम-विह्वल दशा में इस प्रकार बारम्बार स्तुति करते हुए देखकर मैंने पूछा— भाई जी, क्या कारण है? आज आप श्री प्रभु जी की बहुत स्तुति कर रहे हैं।

श्री ब्रह्मचारी जी का मुख-मण्डल उस समय आन्तरिक प्रेममय भावों से अत्यन्त शोभायुक्त एवं विनम्र दिखाई दे रहा था। मेरी बात का कोई उत्तर न देकर वे पुन: ध्यानस्थ हो गये, किन्तु थोड़ी-थोड़ी देर बाद बीच-बीच में ज्योंही उनके नेत्र खुलते, मैं बारम्बार पूर्व प्रश्न ही करता रहा और मन में सोचता था कि किसी भी प्रकार ब्रह्मचारीजी अपना आज का अनुभव तो बतला ही दें। मेरे बारम्बार पूछने पर और मेरी तीव्र जिज्ञासा एवं प्रगाढ़ लगन देखकर ब्रह्मचारी मुस्कराये और हँसते हुए बोले— अरे भइया! अभी तुम बच्चे हो। तुमने अभी तक ऐसी बातें सुनी भी नहीं होंगी। मैं तुम्हें बता तो दूँ, परन्तु कह नहीं सकता कि तुम उस अद्‌भुत लीला को सत्य मान सकोगे या नहीं।

उनकी बतलाने की प्रवृत्ति देखकर मेरे मन में जानने का हठ और भी अधिक हो गया। अन्तत: ब्रह्मचारी जी मेरा अत्यधिक आग्रह देखकर कहने लगे—अरे भइया! उस परम कृपा-सागर की लीला क्या कहूँ? आज तो योगयोगेश्वर अगाध दयानिधि श्री प्रभु जी ने किसी तपेदिक के मरणासन्न रोगी के अत्यन्त कष्टप्रद रोग का संस्कार अपने शरीर पर आकर्षित किया है। अब तीन दिन और तीन रात्रि तक निरन्तर इस रोग को स्वयं कृपानाथ जी भोगेंगे और वह रोगी बिल्कुल रोगमुक्त होकर पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा।

यह वृतांत सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, यद्यपि मैं दीक्षित हो चुका था। योग-योगेश्वर श्री प्रभुजी की अनुपम कृपाओं का अनुभव मेरे मन में अवश्य था और मेरा मन शक्तिपात दीक्षा के महत्व को भी भलीभाँति समझ चुका था। किन्तु इस प्रकार के अद्‌भुत कार्य भी होने सम्भव है। इस विषय का मुझे ज्ञान नहीं था। अत: मन सहसा विश्वास न कर सका और मैंने ब्रह्मचारी जी से निवेदन किया— भाई जी! यदि यह बात सत्य है तो मैं आश्रम में अपने आप जाकर देखना चाहता हूँ। ब्रह्मचारी जी ने कहा— प्रसन्नता से जाओ और इन कृपानाथ की इस अनुपम कृपा को प्रत्यक्ष देखो।

ब्रह्मचारी जी के वचनों को सुनकर मेरे मन में श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में ऋषिकेश जाने की उमंग भर गई, परन्तु संस्कार-वशात् मैं दो दिन नहीं जा सका। तीसरे दिन शाम की गाड़ी से अमृतसर से चलकर अगले दिन प्रात: मैं ऋषिकेश पहुँचा था। आश्रम में प्रवेश करके देखा— सामने आराम कुर्सी पर नेपाली काला धुस्सा ओढ़े हुए श्री प्रभुजी बैठे थे। उनका मुख-मण्डल प्रसन्न होते हुए भी क्लान्ति के स्पष्ट चिह्नों से युक्त था। उनके चरण-कमलों के समीप ही एक व्यक्ति बैठा हुआ था, जो बिल्कुल क्षीणकाय एवं तेजहीन मालूम पड़ता था। वह अस्थि पंजरावशेष-सा ही दिखाई देता था।

मैंने श्री प्रभुजी के चरण-कमलो में साष्टांग प्रणाम करके विनम्र शब्दों में पूछने का साहस किया— हे दीनबन्धों! आज आप उदास से कैसे हो रहे हैं? श्री प्रभुजी ने अत्यन्त गम्भीर वाणी में उत्तर दिया— क्यों, कैसे हो रहे हैं?

मैं तो कृपानाथ जी की वाणी सुनकर चुप हो गया, किन्तु श्री प्रभुजी के पास बैठे उस क्षीणकाय व्यक्ति का कण्ठ भर आया और वह यकायक रोने लगा। मैंने आश्चर्य में आकर उससे पूछा-भैंया! तुम कौन हो और किस कारण रो रहे हो? इसी बीच में श्री प्रभुजी शान्त-भाव से अत्यन्त मधुर वाणी में उसे सांत्वना दे रहे थे- भाई! रोते क्यों हो? इस प्रकार के कार्य तो यहां होते ही रहते हैं। मैंने उस व्यक्ति से आग्रह करके पूछा- भाई! सत्य बतलाओ। तुम्हारे इस प्रकार सहसा रो पड़ने का क्या कारण है? उस व्यक्ति का नाम मानिकचन्द था और वह अमृतसर में ही सोने-चांदी की दलाली करता था। मानिकचन्द्र ने बड़े विनम्र शब्दों में मुझसे कहा— भाई जी! श्री प्रभुजी का शरीर जो आपको दुर्बल सा दिखाई दे रहा है, इसका कारण मैं ही पापात्मा हूँ। मैं इन दीनबन्धु जी दया का क्या बदला दे सकूँगा और क्या ही इन परम कृपालुकी सेवा कर सकता हूँ? ये करुणानिधि अकारण कृपालु हैं। दीनबन्धु हैं, अनाथों के नाथ हैं, शरणागतों के रक्षक हैं। यह कहकर मानिकचन्द ने जो आप-बीती मुझे सुनाई थी वह इस प्रकार है—

'मैं तपेदिक का इलाज कराने सोलन गया या और धर्मपुर पहाड़ पर रहकर चिकित्सा करा रहा था, परन्तु मुझे वहां कोई भी लाभ नहीं सका। अन्ततः डाक्टरों ने मेरे रोग को असाध्य घोषित करके कह दिया— अब तुम किसी भी प्रकार बच नहीं सकते। बस, अधिक से अधिक दस-पन्द्रह दिन के और मेहमान हो। धर्मपुर के डाक्टरों की यह राय सुनकर मेरा मन जीवन से बिल्कुल निराश हो गया। मेरी स्त्री भी परम दुःखी होकर उनके अन्तिम आश्रय भगवान को स्मरण करने लगी। अकस्मात् रात्रि में मेरी स्त्री को स्वप्न में भगवान श्रीकृष्ण जी के दर्शनों की अनुभूति हुई। अपने पति को ऋषिकेश ले जाओ, वहां पर एक पूर्ण योगिराज हैं, उनके साथ इसका संस्कार भी है: उनकी कृपा से इसका जीवन बच जायेगा।'

'भगवान की पवित्र प्रेरणा से मेरी स्त्री के मन में मुझे ऋषिकेश ले जाने का दृढ़ संकल्प बन गया। मेरे मन में भी विचार आया— ऋषिकेश ही चलें और कुछ न भी हुआ तो कम से कम गंगाजी का पवित्र तट तो अन्तिम समय मिल ही जायेगा। मेरी स्त्री बड़ी कठिनाई से मुझे ऋषिकेश तक ले आई, मेरी अवस्था मरणासन्न थी। बड़ी कठिनाई से मेरी पत्नी ने मुझे तांगे में डाला और आश्रम के द्वार पर किसी प्रकार मुझे उतरवा कर डाल दिया। उस समय श्री प्रभुजी भ्रमणार्थं गये हुए थे। उनके अनुपम चमत्कारों के विषय में सुनकर वह स्वांति-नक्षत्र की बूँद के लिए चातक के समान श्री प्रभुजी की प्रतीक्षा करने लगी। भ्रमण से लौटने पर श्री प्रभुजी ने मुझे दरवाजे पर पड़ा देखकर पूछा— यह कौन है, क्यों आया है, कहां से आया है? मेरी पत्नी ने सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक श्रीचरणों में निवेदन किया। मेरे असाध्य रोग की बात सुनकर बाहरी मर्यादा का पालन करते हुए श्री प्रभुजी ने भी उत्तर दे दिया— ऐसे रोगी का हम क्या कर सकते हैं? यह न कोई साधन कर सकता है और न यौगिक-क्रियायें करने की शक्ति ही इसमें शेष है। ऐसी दशा में औषधि-सेवन की ठीक रहेगा। कहीं ले जाकर इसका इलाज कराओ।'

'अनाथनाथ जी के ऐसे रूखे एवं दया-शून्य वचन सुनकर मेरी पत्नी का हृदय अत्यन्त दुःखी हुआ और उसके नेत्रों में जल भर आया। उसने अत्यन्त कातरवाणी में दीनबन्धु से प्रार्थना की— हे प्रभो! अब संसार में आपके चरण-कमलों के अतिरिक्त हमारा कोई सहारा नहीं है। अब जो कुछ भी होगा, आपके चरण-कमलों में ही होगा। अब हम दूसरी जगह कहीं नहीं जायेंगे। हमारी पहुंच तो यहीं तक थी, इससे आगे और कहीं जाने की हमारी शक्ति नहीं है। उसके दीन वचनों को सुनकर दीनबन्धु जी के मन में कृपा की लहर आ गई। प्रसन्नता से बोले— अच्छा, अच्छा! बच जायेगा। फिर मेरी पत्नी से बोले— अपने पति से पूछ ले कि कौन-सी वस्तु खाने की रूचि है? मेरे मन में उस समय खटाई पड़ी, तेल तली, बैंगन की पकौड़ी खाने की इच्छा हुई। मेरी पत्नी ने मेरी यह इच्छा श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में निवेदन कर दी। यद्यपि तेल की तली यह पकौड़ी उस समय मेरे लिए महान कुपथ्य थीं, फिर भी श्री प्रभुजी ने पूर्ण प्रसन्नता से आज्ञा दी— यह जो कुछ भी खाना चाहता है, अवश्य इन्हें प्रेम से खिलाओ। श्री प्रभुजी का आदेश पाकर चकित-सी मेरी पत्नी तेल की तली वैसी पकौड़ी ले आई और मुझे खिला दीं। उन्हें खाते ही मेरा शरीर चेतना शून्य हो गया। मेरी यह दशा देखकर मेरी पत्नी व्याकुल होकर रोने लगी। किन्तु उधर मेरे साथ इन कृपानिधिजी की कुछ और ही लीला हो रही थी। मुझे उसी बेहोशी में एक स्वप्नसा दीखा— महान तेजमण्डल के साथ श्री प्रभु जी मेरे समक्ष खड़े होकर कह रहे थे, मानिकचन्द! तू अब इस कष्ट को नहीं भोग सकता। यदि भोगेगा तो तीन में ही त्रिलोक से बाहर हो जायेगा। अतः ला, अब तेरा यह कष्ट हम लेकर भुगताये देते हैं, मुख खोल। जब मैंने मुख खोला तो एक अद्‌भुत आश्चर्य हुआ। मेरे मुख से एक भयंकर काला-काला सा गोला निकलकर श्री प्रभुजी के मुख में प्रविष्ट हो गया। मेरी स्त्री क्या समझती कि वह अनाथों के नाथ परम कृपा-सागर उस समय मेरे ऊपर कैसी कृपा कर रहे थे? पर दुःख कातर प्रभु ने मेरा रोग अपने शरीर पर ले लिया था। यह वह अज्ञानी कैसे जान सकती थी? अतः वह मेरे अनिष्ट की आशंका के कारण व्याकुलता में निरन्तर रोती रही।

उधर श्री प्रभुजी ने कमरे में एक निवाड़ का पलंग बिछवा लिया था। अकस्मात् पूर्ण रूप से नीरोग एवं स्वस्थ उनके शरीर में मेरे रोग के पूरे-पूरे लक्षण प्रकट हो गये। मेरे समान ही बुखार, खांसी एवं दस्त श्री प्रभुजी को ज्यों के त्यों लग गये। मेरी पत्नी का रोना सुनकर श्री दीनबन्धु जी ने उसके पास एक लड़का भेजा कि उससे जाकर कहना कि घबराने की कोई बात नहीं है। उसका पति एक घण्टे में राजी होकर बोलेगा। लेकिन अज्ञान के कारण वह इसको केवल मात्र साधारण आश्वासन ही समझी और पूर्ववत् व्याकुल होती रही। थोड़ी देर बाद मुझे चेतना हुई और मैंने स्वयं कहा— अरी तू रोती क्यों है? देख मेरे सारे रोगों को कृपानाथ श्री प्रभु जी स्वयं भोग रहे हैं। तू ऊपर चबूतरे पर जाकर देख तो, मेरा सारा कष्ट दीन-रक्षक ने ज्यों का त्यों अपने ऊपर ले लिया है। वे स्वयं मेरा रोग भुगतान कर रहे हैं और मैं बिल्कुल ठीक हो गया हूँ। मेरी स्त्री ने जब उन कृपानिधि की ऐसी दशा देखी तो बड़े आश्चर्य में पड़ गई और प्रभुजी की इस अनुपम कृपा का स्मरण कर गद्‌गद् हो गई।

मेरे कष्ट को श्री प्रभुजी ने अपने तन पर निरन्तर तीन दिन तीन रात्रि भोगकर आज ही समाप्त किया है और अब यह कृपानाथ जी घनघोर बादलों से मुक्त हुए निर्मल चन्द्रमा के समान शान्त भाव से हम लोगों के मध्य बैठे हैं। श्री प्रभुजी ने भगवान सदाशिव की भांति मेरे रोग रूपी गरल का जो पान किया है, उसकी यत्किंचित क्लांति उनके मुख-मण्डल पर शेष है।

यह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर मुझे ब्रह्मचारी जी के वचनों का स्मरण हुआ। अब विश्वास न कर सकने का तो प्रश्न ही नहीं था। फिर भी मन में बड़ा आश्चर्य लगा कि दूसरे के कष्ट को इस प्रकार भी भोगा जा सकता है, जैसा कि मानिकचन्द दलाल के निमित्त भोगा था। मेरे सामने सपत्नीक मानिकचन्द दो मास के लगभग वहां रहे। वे लोग काली कमली वालों के क्षेत्र में ठहरे हुए थे एवं प्रभु जी की आज्ञानुसार योग-साधन कराया करते थे। नैपाल हिमालय से लौटकर इस विशेष साधन को स्वयं श्री प्रभुजी ने अपने मन से प्रकट किया था। इसमें क्रमश: ६ क्रियायें हैं—

(१) सर्वोत्तान (२) स्कन्ध संचालन
(३) पग-चालन (४) नाभि-चालन
(५) जानुप्रसार (६) बाल-मचलन
(७) बालक का ध्यान (८) नाड़ी-चालन
(९) उत्प्रेक्षण।

इन सब क्रियाओं के मध्य में इस जीवन तत्व साधन से सम्बन्ध रखने वाला एक प्राणायाम भी कराया करते थे। यह जीवन तत्व साधन क्या है? और इसकी शरीर को स्वस्थ रखने में क्या उपयोगिता है? यह एक विस्तृत विषय है और वर्णित विषय के बाहर है। केवल इतना कथन ही यहां पर्याप्त है कि इस जीवन-तत्व साधन की नौ क्रियाओं से नियमपूर्वक करने से साधन करने वाले व्यक्ति के शरीर में एक दिव्य बल का संचार होता है और उसको वृकाग्नि उत्पन्न हो जाया करती है। उस समय मैंने श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में इस साधन का आश्चर्यजनक प्रभाव देखा है। उन कृपानाथ की कृपा से जीवन तत्व साधन करने वाले व्यक्तियों का कायाकल्प हो जाया करता था। श्री प्रभुजी इस साधन को दिन में तीन बार कराया करते थे। इसको निर्विघ्न तीन माह तक करने के बाद वृकाग्नि उद्दीप्त हो जाती थी और साधन करने वाले नित्य १५-१५, २०-२० सेर तक कच्ची सब्जी, भिंगोई हुई दाल या चने, फल, दूध इत्यादि खाकर पचा लिया करते थे। इस साधन को श्री प्रभु जी दो घण्टा सुबह, दो घण्टा दोपहर और दो घण्टा सन्ध्या समय कराते थे। बाल-मचलन क्रिया के बाद इस जीवन-तत्व साधन में बालक का ध्यान कराया जाता है। साधन करने वालों को बच्चा सम्मुख दिखाई देता है और वे स्वयं अपने आपको भी बालक समझकर शरीर में बालकों जैसी स्फूर्ति एवं बल का अनुभव करते थे। शारीरिक स्वास्थ्य के साधन काल में होने वाला यही बालक का ध्यान के बाद में ईश्वरीय दिव्य ध्यान में बदलकर आध्यात्मिक उन्नति का द्वार खोल देता है। श्री प्रभुजी के चरणों में अनेकों व्यक्ति रोग-मुक्त होकर स्वस्थ होने के लिए आये और शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के अनन्तर ये लोग योग-मार्ग के सच्चे अभ्यासी साधक बन गये।

मानिकचन्द दलाल भी इसी प्रकार के साधकों में से एक थे। मेरे सामने मानिकचन्द अपनी पत्नी के साथ लगभग दो माह तक आश्रम में नित्य आते थे और श्री प्रभुजी की आज्ञा से जीवन तत्व साधन करते थे। साधन करने में श्री प्रभुजी की अनुपम कृपा से कोई विघ्न न हुआ। साधन-काल में ६-७ सेर कच्ची सब्जी, ३-४ सेर दूध, २-३ सेर चने की भिंगोई गई कच्ची दाल, घी, कई-कई सेर फल, दही इत्यादि नित्य खाते हुए मैंने उन्हें स्वयं देखा है। दो माह की नियमित साधना के बाद उनका स्वास्थ्य एक पूर्ण स्वस्थ युवक के समान बलवान् हो गया। शारीरिक स्वास्थ्य के इसी साधना-काल में मानिकचन्द की आत्मिक साधना भी श्री प्रभुजी की कृपा से चल पड़ी। श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में मानिकचन्द ने सपत्नीक योग-दीक्षा भी ग्रहण की ओर दोनों का ही ध्यान-योग में दिन-दूना, रात-चौगुना प्रवेश नित्य बढ़ता ही गया। शरीर भी उनका पूर्ण स्वस्थ और नीरोग हो गया। नियमित ध्यानाभ्यास से उनकी स्थिति उच्चतर होती गई।

संसार परिवर्तनीशील है। यह पंच-भौतिक शरीर एक न एक दिन जाने के लिए ही संसार में आता है। लगभग दस-बारह वर्ष अपने अभ्यास में मग्न रहने के बाद एक दिन मानिकचन्द ने अपनी ध्यान-समाधि में देखा—

मेरा मृत्यु काल समीप आ गया है। श्री प्रभु जी उस समय स्थूलरूप में विराजमान थे। मानिकचन्द ने श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में निवेदन किया— प्रभो! मुझे कुछ ऐसा अनुभव हुआ है कि आठ-दस दिन में मेरा सम्बन्ध इस पंच-भौतिक शरीर में छूटने वाला है। क्या यह सत्य है? श्री प्रभुजी सुनकर हँसने लगे— घबराता क्यों है? यह तन तो नश्वर है ही, देर-सवेर इससे वियोग होना निश्चित ही है। तत्व विजयी तो तू है नहीं, जो इस तन को अधिक काल तक कायम रख सके। मानिकचन्द ने विनय की— हे प्रभो! आप सर्व-समर्थ हैं। कृपानिधान हैं। क्या कोई ऐसा उपाय हो सकता है कि मैं इस शरीर में कुछ समय तक और रह सकूँ? श्री प्रभुजी ने कहा- हां, केवल एक उपाय है वह यह कि हमारे पास आने के बाद में ध्यान-समाधि का निरन्तर अभ्यास करके दस-बारह वर्षों में तुमने जो रहो। आठवें दिन तुम्हारा इस शरीर से सम्बन्ध छूटने वाला है। मानिकचन्द ने श्री प्रभुजी की आज्ञा को अक्षरश: पालन करते हुए अत्यन्त सूक्ष्म आधार लेकर अहर्निश ध्यानयोग का अभ्यास किया। सब प्रकार के पारिवारिक सम्पर्कों को त्यागकर एकान्त कमरे में स्वच्छ वायुमण्डल में स्वच्छ वस्त्र धारण करते हुए पूर्ण पवित्रता से इस कार्यक्रम को निभाया। आठवें दिन प्रात: अपनी पुण्यवती धर्म-पत्नी को आज्ञा दी— आज हमारा यह शरीर जाने वाला है। तुम पूर्ण प्रसन्नता से भूमि लीपकर मेरे लिए भू-शय्या का प्रबन्ध करो। उनकी आज्ञाकारिणी साध्वी पत्नी ने आज्ञा का पालन किया। मानिकचन्द श्री प्रभुजी के चरण-कमलों का ध्यान करते हुए भू शैया पर बैठ गये और ध्यान-मग्न हो गये। उनके मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति एवं तेज विराजमान था और वे पूर्णरूप से आनन्दित प्रतीत होते थे। इसी बीच में उनके किसी कुटुम्बी ने आकर उनसे कहा— मानिकचन्द जी! सुना है आज आपकी परलोक यात्रा हो रही है। किन्तु आज पंचक लग गये हैं। अत: आज आपके शरीर का छूटना शेष कुटुम्ब के लिए बहुत अनिष्टकारी होगा। मानिकचन्द हँसे और बोले—अच्छा पंचक लग गये हैं। फिर अपने पुत्र हीरानन्द को बुलाकर आज्ञा दी— बेटा! उन योगयोगेश्वर श्री प्रभुजी के चरणों में जाकर निवेदन करो कि पंचक लग जाने के कारण कुटुम्बीजन शंकित हैं। ऐसी दशा में आपकी क्या आज्ञा है? हीरानन्द ने श्री प्रभुजी के चरणों में पहुँचकर अपने पिताका सन्देश निवेदन किया। श्री प्रभुजी सुनकर हँसे और अपने गले से उतारकर एक पुष्प-माला प्रसाद के रूप में हीरानन्द को देकर बोले— जाओ, मानिकचन्द को यह पुष्प-माला पहनाकर कहना कि प्रसन्नता से पंचक को निकाल दे। हीरानन्द ने आकर अपने पिता को माला पहना दी और श्री प्रभुजी की आज्ञा निवेदन कर दी। श्री प्रभुजी की ऐसी आज्ञा पाकर मानिकचन्द ५ दिन के लिए पुन: सचेत हो गये, पूर्ववत् पवित्र वातावरण में अपना ध्यानाभ्यास करते रहे। अपने प्रयाण के दिन एकादशी की पुण्य बेला में उन त्रिभुवन वन्दित अनुपम चरण-कमलों में अनुपम योग विधि से मन को लीन करके अपने नश्वर तन को त्याग दिया। वहां उपस्थित मनुष्यों ने देखा— मानिकचन्द के शरीर से एक तेज धारा निकल कर श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में लीन हो गई।

लाला मानिकचन्द की धर्म-पत्नी ज्ञानदेवी बड़े ही पवित्र एवं उच्च विचार वाली पति-परायण साध्वी स्त्री हैं। उनके परिवार में प्रभुजी की कृपा से सुख-शान्ति है। ज्ञानदेवी पर अपने पतिदेव के समान हर समय प्रभुजी की कृपा बनी रहती है। इनकी ध्यान-स्थिति बड़ी उच्च एवं दिव्य है। उन कृपामय श्री प्रभुजी की अनुपम कृपा के अमृत प्रसाद को प्राप्त करती हैं।

योग एवं वृत्ति सारूप्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग-दर्शन के प्रणेता भगवान पतंजलि ने 'योग-दर्शन' के प्रारम्भ में ही 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र के बाद दूसरे सूत्र **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** कहकर योग की सही परिभाषा की है। योगाभ्यास करने वाला साधक क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एवं एकाग्र रूप चित्त भूमिकाओं से निकलकर निरोधावस्था को प्राप्त होता है, यही जीवात्मा की कैवल्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में इसी का नाम निर्बीज समाधि एवं स्वरूप स्थिति है। निरोध समाधि में जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया— **'तदादृष्टु स्वरूपेवस्थानम्'** अर्थात् समाधि-स्थिति में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहा करता है।

स्वरूप-स्थिति क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान व्यासदेव ने इस सूत्र के भाष्य में प्रश्नोत्तर रूप में लिखा दिया है–

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीम् चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, अर्थात् तदानीं स्थितौ स्वरूप प्रतिष्ठा तावत् कीदृशी यथा कैवल्ये चित्शक्तिर्भवति।

अर्थात् उस निरोध-समाधि जिसका नाम निर्बीज-स्थिति व स्वस्वरूपावस्थान भी वर्णन किया गया है उसमें चित् शक्ति अर्थात् जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है।

इसका उत्तर भी केवल दो ही शब्दों में दे दिया है— **'यथा कैवल्ये'** यानी मोक्ष में जीवात्मा जैसा हुआ करता है।

इसी का नाम 'स्वरूपस्थिति' कहा गया है, इस स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा के सब दुःख द्वन्द्व छूट जाते हैं और उसका स्वरूपावस्थान हो जाता है। यहां पर एक प्रश्न पैदा होता है कि हमारे शास्त्रों में एवं श्रीमद्भगवद् गीता में अखिल लोक पावन जगदात्मा श्रीकृष्ण ने आत्मा को अछेद्य, अदाह्य कहकर इसको विकार रहित बतलाया है। यथा—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।
अछेद्योऽयमदाह्यो, ऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं, नानु शोचितुमर्हसि।।

यानी इस आत्मा को शस्त्र काटते नहीं है, अग्नि जलाती नहीं, पानी इसको गीला नहीं करता, वायु इसको सुखा नहीं सकता, यह अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। एवं यह सर्वत्र ओत-प्रोत रहने वाला निश्चल और सनातन है।

तस्मादेवं विदित्वैन नानु शोचितु मर्हसि

'इसलिये हे अर्जुन! तुम कोई चिन्ता मत करो।' जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण के उपरोक्त उपदेश को सुनकर एवं अन्यान्य औपनिषदिक सिद्धान्तों को समझकर आत्मा की स्थिति निर्विकार एवं सब प्रकार से शुद्ध है ऐसा कहा है। किन्तु योग-दर्शन के **'तदादृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्'** पर भाष्य लिखते हुए समाधि में आत्मा की स्वरूपस्थिति बतला करके व्युत्थान चित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा', अर्थात् व्युत्थान चित्त में चित्त शक्ति अछेद्य अभेद्य रहते हुए भी वैसी नहीं होती, क्योंकि वह दर्शित-विषया बन जाती है। इस स्थिति को भगवान पतंजलिदेव ने **'वृत्ति सारूप्य'** कहा है। यथा 'वत्तिसारूप्य मितरत्र' अर्थात् इतरत्र व्युत्थानावस्था में चैतन्य आत्मा वृत्ति सारूप्य हो जाता है, निरोध जैसी स्थिति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में विकार-रहित शुद्ध चेतन आत्मा विकारी सा दीखने लगता है और वह अपने सब कार्य बुद्धि बोध के अनुसार किया करता है। स्वरूपोपलब्धि ही के बहुत से उपायों का वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता हे, किन्तु ऊँची-ऊँची ज्ञान भूमिका में एवं निर्बीज समाधि में भी पहुँच जाने के बाद भी ज्योंही चेतन-शक्ति बुद्धि-बोध को प्राप्त होती है, त्योंही वह वृत्ति सारूप्य होने से, जैसे जिसकी अन्तःकरण की वृत्ति होती है वैसे ही वह प्राणी चेष्टायें करने लगता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इसका संकेत **'सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'** कह कर दिया है। **'प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किंकरिष्यति'**, अर्थात् ज्ञानी पुरुष भी अपने आपको नित्य शुद्ध बुद्ध मनन करते हुए भी जैसा उसका बुद्धि-बोध है वैसी हरकतें किया करता है।

यही कारण है कि बड़ी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुए महात्माओं के चरित्र उनकी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार दिखलाई देते हैं। भगवान श्रीराम की मर्यादा-पुरुषोत्तमत्ता जगदात्मा श्रीकृष्णं की लीला-पुरुषोत्तमता उनकी अपनी-अपनी स्वीकार की गई प्रकृति की परिचायक है। मेरे गुरुदेव योगयोगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज वृत्ति सारूप्य का पूरा-पूरा स्वरूप समझा देने वाला एक उदाहरण अपने मुखारविन्द से बतलाया करते थे। वृत्ति सारूप्य के स्वरूप को समझाने के लिए मैं उसको यहां लिख देना उचित समझता हूँ :-

सुन्दरसिंह टाकू का उदाहरण

ऋषिकेश से लगभग ७ या ८ मील ऊपर भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर ब्रह्मपुरी नाम का एक जंगल है। हिमालय की यात्रा करते हुए सबसे प्रथम ऋषिकेश से चलने के बाद मेरे गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस जंगल में निवास किया था। जिन दिनों श्री प्रभु जी इस वन में निवास किया करते थे उन्हीं दिनों महात्मा कृपालानन्द नाम के एक सिद्ध योगिराज भी यहां निवास करते थे। उन्होंने अपने आपको शिवमय बना लिया था। भगवान शिव की शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे महात्मा अणिमादिक ऐश्वर्यों से सब प्रकार से परिपूर्ण एवं कर्तुमकुर्तुम अन्यथा कर्तुम की ताकत वाले सर्व समर्थ महात्मा थे। उन्हीं दिनों सुन्दरसिंह नाम का एक डाकू कहीं से डाका डालकर कई हजार का सुनहरी जेबरात लूटकर ले आया था। वह चाहता था कि उस कीमती जेबर को कहीं जंगल में छुपा दे और समय आने पर पुन: वहां से निकाल ले जाय। उस डाकू का कोई पूर्व पुण्य उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कहीं से घूमते हुए योगिराज श्री कृपालानन्द जी भी अकस्मात् उधर आ निकले। उन्होंने उस डाकू की इस क्रिया को देख लिया और उससे कहा कि—तू यह क्या कर रहा है! डाकू ने जवाब दिया कि— महाराज मैं डाकू हूँ। डाका डालकर कुछ धन यहां ले आया हूँ और उसको यहां दबा रहा हूँ, ताकि कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर मैं यहीं से निकाल ले जाऊँ। महाराज! मैं डाकू हूँ और यह मेरी वृत्ति है। योगिराज श्री कृपालानन्द जी को उसकी सत्यवादिता एवं विनय पर स्वाभाविक प्रसन्नता आ गई और उन्होंने कहा कि डाकू क्या तू हमारी आज्ञा से इस कुकर्म को छोड़ देगा और जो कुछ अब हम कहें वह काम करेगा। इस डाकू ने योगिराज की इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और नि:संकोच कह दिया कि— प्रभो! आप जो कुछ भी कहेंगे, मैं उसका सदा सर्वथा बिल्कुल पालन करने को तैयार हूँ। आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ। योगिराज श्री कृपालानन्द जी ने किसी पूर्व पुण्यवश उस डाकू के विनयपूर्वक वचनों को सुनकर आज्ञा दी कि अच्छा यह जितना जेबर तुम यहां छिपाने के लिए लाये हो इसको उठा लाओ और हमारे साथ चलो। उस डाकू ने अपना सौभाग्य समझकर तत्काल योगिराज की आज्ञा को मान लिया और सुनहरी जेबर की गठरी को उठाकर उनके साथ चल दिया। महात्मा जी उसको गंगा-किनारे ले गये और वहां ले जाकर आज्ञा दी कि अच्छा अब इस सब जेबर को यहां गंगा जी में फेंक दो। डाकू ने योगिराज की आज्ञा को मानकर सब जेबर गंगा जी में फेंक दिया और स्वयं निर्द्वन्द हो गया। योगिराज श्री कृपालानन्द जी की अहैतुकी कृपा से वह उसी समय से संप्रज्ञात का विद्यार्थी बन गया और उत्तरोत्तर उसका आत्मोत्थान होने लगा। योगिराज श्री कृपालानन्द जी ने उस सुन्दर सिंह नाम के डाकू को योगिराज सुन्दरगिरि नाम में परिवर्तित कर दिया। शनै:-शनै: अपने तीव्रतम योगाभ्यास एवं शुभाचरण के फलस्वरूप वह अणिमादिक सकल ऐश्वर्यों को पा गया। किन्तु योगिराज सुन्दरगिरि के सर्वसमर्थ हो जाने के बाद ही वृत्ति सारूप्य के फलस्वरूप जिस समय वह अपनी निर्जीव समाधि से उठकर वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होते, त्योंही अपने डाकू स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते थे, क्योंकि 'स्वभावोहि दु:स्त्यज: पुंसाम्', यह स्वभाव एक प्रकार से वृत्ति सारूप्य ही है। इसी बात का संकेत करते हुए भगवान जगदात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कह दिया :—

निरोध एवं वृत्ति सारूप्य

स्वभावजेन कौन्तेय, निवद्ध: स्वेन कर्मणा।
कर्तु नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यसि वशोऽपि तत्।।

अर्थात् हे अर्जुन! मनुष्य अपने स्वभाव से निबद्ध है। जिन कर्मों को तू मोहवश नहीं करना चाहता, वे सब कर्म विवश होकर तुम्हें करने ही पड़ेंगे। यह नियम साधू, महात्मा, संन्यासी एवं साधारण जीव सभी पर सामान्य रूप से लागू है।

योगी सुन्दरगिरि एक बार हरिद्वार कुम्भ पर आये। कई सौ की तादाद में उनकी शिष्य-मण्डली उनके साथ थी। इतने बड़े समुदाय के लिए अन्न-क्षेत्र की बड़ी भारी आवश्यकता थी। योगी सुन्दरगिरि ने देखा कि इस कुम्भ के मेले में कोई एक बड़े धनिक आये हुए हैं जिनसे इस अभाव की पूर्ति करानी चाहिए। योगी सुन्दरगिरि सर्व समर्थ थे, चाहते तो उन सेठ जी के मन में प्रेरणा करके भी उस काम को करा सकते थे, किन्तु उन्होंने वैसा न करके अपने एक शिष्य के द्वारा एक आज्ञा-पत्र लिखकर भेज दिया कि इतनी बोरी खांड, इतनी बोरी आटा, इतने कनस्तर घी के, इतना-इतना साक-सब्जी व अन्यान्य सामान तत्काल भेज दो। सेठ जी ने इतने बड़े सामान को भेजने में जब आना कानी की तो योगी सुन्दरगिरि ने प्राणाकर्षिणी विद्या से उनके प्राणों को खींचना प्रारम्भ कर दिया और जो काम साधारण प्रेरणा मात्र से कराया जा सकता था, उसको कठिन आकर्षण से जबरदस्ती कराया। इसी का नाम वृत्ति सारूप्य है। सर्व साधारण प्राणी सभी वृत्ति सारूप्य में रहा करते हैं। केवल मात्र युक्त योगी, जिसने अपने कठिन प्रयास से निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लिया है, वे ही देह धारण करते हुए भी निर्बीज समाधि में—स्वरूपावस्थित होते हैं। जो लोग बिना परिश्रम के एवं बिना तपश्चर्या के सिद्धानुग्रह को पाकर उच्चतम स्थितियों को पा जाया करते हैं, वे वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होकर अपने स्वभाववश पाप-पुण्य के झमेले खरीद लिया करते हैं। इसलिए जहां योगी अपने समाधिरूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है वहां अपने क्लिष्ट वृत्तियों के नाम करने के लिए तीव्रतम तपश्चर्या अथवा योगांगों के अनुष्ठानों की उसे भारी आवश्यकता रहती है। जिससे इसी शरीर के अन्दर रज और तम के क्षय हो जाने के बाद सतोमयी शुभ वृत्तियों का उदय हो जाय जिससे वृत्ति सारूप्य काल में उससे शुभ कार्य ही हो सकें।

इन्द्रियजय की साधना और उसके परिणाम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग के पिछले अङ्कों में हमने योग-दर्शन के विभूति-पाद की कितनी ही साधनाओं का शास्त्रोक्त विधि से वर्णन किया था। अभी पिछले दिनों सन ७६ के आठवें अंक में भूतजय की साधना नाम का एक लेख लिखा गया था, जिसमें पंच महाभूतों के स्थूल स्वरूप, सूक्ष्म-अन्वय एवं अर्थवत्वय आदि में संयम करने से भूतजय की साधना के प्रकार बतलाये गये थे। ठीक उसी प्रकार से इन्द्रियजय की भी साधना है। भूतजयी हो करके व्यक्ति पंच महाभूतों पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार इन्द्रियजय की साधना करने वाला व्यक्ति शनै:शनै: अभ्यास को बढ़ाता हुआ मूल प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करके प्रधानजयी बन जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव ने इन्द्रियजय प्राप्त करने के लिए इस सूत्र का उल्लेख किया—

ग्रहण स्वरूपास्मिताऽन्वयार्थवत्त्व संयमादिन्द्रियजय:।

अर्थात् इन्द्रियों के भी पंच विभाग मान लेने चाहिए, जिसमें सबसे पहला है ग्रहण-योग-दर्शनकार के मत में सामान्य और विशेषों को ले करके इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है और इसी प्रकार से सामान्य रूप से इन्द्रियों का जो निजी रूप है— जैसे नेत्रों का नेत्रत्व और कर्णों का कर्णत्व आदि आदि जो सत्तामात्र रूप है, वही सामान्य रूप कहलाता है। तीसरा अस्मिता-जो बुद्धि सत्व का शुद्ध अहंकार है। जहां से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, वही अस्मिता नाम का अहङ्कार इन्द्रियों का अभिषेक है। उसके विशेष परिणामस्वरूप ही इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई, यही अस्मिता नाम का अहंकार इन्द्रियों का तीसरा रूप है। इन्द्रियों का चौथा रूप अन्वय— अर्थात् सतोगुण, रजोगुण एवं सतोगुण, प्रकाश क्रिया स्थितिशील होने से इन्द्रियों में अनुगत रहते हैं, इसलिए इन्द्रियों का यह चौथा अन्वय रूप है। उसके बाद इन्द्रियों का पांचवां रूप अर्थवत्त्वय रूप है। अर्थवत्त्व का अर्थ है प्रयोजन। अर्थात् जिस अर्थ को लेकर इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई वह प्रयोजन ही इन्द्रियों का अर्थवत्त्वय रूप है। प्रकाश-क्रिया स्थितिशील पंच महाभूत एवं ऐन्द्रियात्मक जितना विस्तार है, उसको भगवान पतञ्जलिदेव ने दृश्य माना है। उस दृश्य के पुरुष के निमित्त दो ही प्रयोजन हैं- पहला भोग, दूसरा अपवर्ग। यही इन्द्रियों का अर्थवत्त्वय रूप है। इन्द्रियों के पांचों रूपों के अन्दर जब योगी समाधि विधि से संयम करता है, तो वह इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है एवं इन्द्रियजयी बन जाता है। पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

सामान्य विशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्य: तेष्विन्द्रियाणाम् वृत्तिर्ग्रहणम् न च तत्सामान्यमात्र ग्रहणाकारं कयमनालोचित: स विषय विशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयेतेति, स्वरूपं पुन: प्रकाशात्मनो बुद्धि सत्वस्य सामान्य विशेष योरयुतसिद्धावयव भेदानुगत: समूहो द्रव्यमिन्द्रियं, तेषां तृतीय रूपमस्मितालक्षणों-ऽहङ्कार: तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषा:, चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मिका: प्रकाशक्रिया स्थितिशीला गुणा:, येषामि-न्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामा:, पंचम रुपगुणेषुयदनुगतं पुरुषार्थ वत्वमिति, पंचस्वेतेष्विन्द्रिय रुपेषु यथाक्रमं संयम:, तत्र तत्र जयं कृवा पंचरूप जयादिन्द्रिय जय: प्रादुर्भवति योगिन:।

भावरूप से इन पंक्तियों का अर्थ ऊपर अभिव्यक्त कर ही दिया है। अत: शब्दार्थ की विशेष आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती।

इन्द्रियजय प्राप्त करने के बाद योगी को तीन प्रकार की सिद्धियां स्वाभाविक प्राप्त हो जाया करती हैं, जिसका उल्लेख भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार किया है—

ततो मनोजवित्वं विकरणभाव: प्रधान जयश्च।

इस सूत्र पर व्यास-भाष्य की पंक्तियां—

कास्यानुत्तमो गतिलाभो मनोज-वित्वं, विदेहानामिन्द्रिय-याणामभिप्रेत देश काल विषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरण भाव: सर्व प्रकृतिविकारवशित्वम्प्रधानजय इति, एतास्तिस्र: सिद्धयोमधु प्रतीका उच्यन्ते, एताश्च कर्णपंचक रूप जयादधिगम्यन्ते।

अर्थात् इन्द्रियजय की साधना पूरी हो जाने के बाद योगी को यह तीन प्रकार की सिद्धियाँ स्वत: उपलब्ध हो जाया करती हैं।

१. मनोजवित्वम्—

अर्थात् जिस गति से हमारा मन जाता है ठीक उसी प्रकार से योगी का शरीर भी मन के वेग वाला बन जाता है। अर्थात् जहां-जहां योगी का मन जाता है, वहां-वहां मनोजविता से योगी का शरीर भी चला जाता है।

२. विकरण भाव—

अर्थात् शरीरादि की अपेक्षा के बिना ही योगी की इन्द्रियां अपना-अपना काम करने लगती हैं। जैसे- दूरदर्शन, दूर श्रवण, दूर-स्पर्शन, रस ग्रहण करना, दूर की गन्ध स्पर्श करना इत्यादि छोटी-छोटी ताकतें प्राप्त हो जाती हैं।

३. प्रधान जय—

अर्थात् योगी का मूल प्रकृति पर पूरा अधिकार हो जाता है और वह कर्तुमकर्तुम् सर्वथा सक्त: की ताकत वाला हो जाता है। ये सारी की सारी सिद्धियां योगी को समाधि बल से तो प्राप्त होती ही हैं, किन्तु जो योगी साधना के बल से अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है, वही समाधि और संयम के बल को पा सकता है। इसके अतिरिक्त जो लोग काममयी वासना भोगी हैं उनके लिए यह आकाश में निराधार खिले पुष्प के समान असम्भव है। अत: योगी साधक को चाहिए कि वह अपने जीवन को संयमी बनाये।

योगी की सर्वभावाधिष्ठातृत्व एव सर्वज्ञातृत्व शक्ति

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने अपने इससे पहले लेख में इन्द्रियजय से होने वाली तीन विशेष सिद्धियों का वर्णन किया था। सबसे पहली मनोजवित्वं अर्थात् (कायस्यानुत्तमोगतिलाभः) शरीर को उत्तमोतम गति प्राप्त होना मनोजविता नाम की सिद्धि है। इस सिद्धि के प्राप्त होने पर योगी का मन जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ उसका शरीर भी पहुँच जाया करता है, इसलिए इस सिद्धि का नाम मनोजविता है। मनोजविता का अर्थ ही यह है कि जैसी गति मन की है वैसी ही गति योगी के शरीर को प्राप्त हो जाय, अर्थात् जहां योगी का मन जाय, वहीं योगी का शरीर पहुँच जाय, इसी को मनोजविता कहते हैं।

द्वितीय सिद्धि—

इन्द्रियों का विकर्णभाव अर्थात् इस समय हमारी इन्द्रियाँ— आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि अपने अधिष्ठानभूत शरीर के गोलकों के द्वारा आपकी शक्ति का प्राकट्य करती हैं और इनकी शक्ति इस समय सीमित हैं। विकर्ण भाव का अर्थ है, अपने अधिष्ठानभूत शरीर के गोलकों के बिना दूर-दूर का देखना, दूर-दूर का सुनना, दूर-दूर का स्पर्श करना आदि-आदि काम करने की योग्यता संयम के बल से जब इन्द्रियों में पैदा हो जाना, इसी का नाम विकर्णभाव है। ये सिद्धि भी इन्द्रियजय की कठिन साधना के साथ-साथ ही योगी को उपलब्ध होती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों योगी का संयम बढ़ता है त्यों-त्यों योगी प्रकृति पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है इसी का नाम प्रधान जयत्व है और इसके साथ-साथ ज्यों-ज्यों योगी विवेक ख्याति को प्राप्त करता है, त्यों-त्यों उसका प्रकृति पर वशीकार होता चला जाता है तथा इन्द्रियों की वैकर्ण्य सिद्धि प्राप्त हो जाने के बाद योगी के मन में पूर्णरूपेण सर्वज्ञातृत्व शक्ति का उदय हो जाया करता है, जिसको भगवान् पतञ्जलिदेव जी महाराज निम्नाङ्कित सूत्र में स्पष्ट रूप से बतला रहे हैं—

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य
सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।
(विभूति-पाद ४६)

इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य-

निर्धूरतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकार संज्ञायां वर्तमानस्य सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूप प्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं, सर्वात्मनोगुणा व्यवसाय-व्यवसेषयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोप-तिष्ठन्ते इत्यर्थः, सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनो गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोषारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः इत्येषा विशोक्ता नाम सिद्धिः। याम्प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेश-बन्धनो वशी विहरति।

(विभूति-पाद ४६)

अर्थात् जिस समय योगी का चित्त निर्मल हो जाता है और रजतम मलों का नाश होकर बुद्धि में प्रज्ञालोक के भाव आ जाते हैं तब इसका प्रकृति के सब भावों पर अधिकार होता चला जाता है और संयम के बल से योगी का चित्त पूर्णरूपेण प्रकृति-पुरुष विवेक को प्राप्त कर लेता है, तब स्वतः ही इसके मन में सर्वजयतृत्व शक्ति का उदय होता है। उसको संयम करते समय किसी भी अवलम्ब की आवश्यकता नहीं रहती, केवल मात्र चिन्तन ही उसके संयम का आधार बन जाता है। इस सिद्धि का नाम विशोका कहा गया है। अर्थात् प्रकृति पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेने पर योगी शोक-रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी के मन में किसी प्रकार के दुःख एवं शोक का उदय नहीं होता। जिस प्रकार से एक चलते हुए चक्र के तेज प्रवाह को देखकर देखने वाले को उसकी पंखुड़ियों के आने और जाने का उसके मन में कोई दुःख या शोक नहीं होता, उसी प्रकार से गुण-धर्मों के परिवर्तन को देखते हुए योगी को दुःख एवं शोक की उत्पत्ति नहीं होती।

''गुणागुणेषु वर्तन्ते इति।'' इन भावों को मन में रखकर अहर्निश गुणों के परिवर्तन को देखकर किसी प्रकार के दुःख एवं शोक को मन में स्थान नहीं देता। इसी प्रकार से प्रकृति के विश्लेषणों पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेने पर और मन में सर्वज्ञातृत्व शक्ति का उदय हो जाने के बाद योगी के गुणों के परिणाम को कोई परिणाम मानता ही नहीं है। सब मायिक दृश्यों को देखता हुआ भी वह दृश्यों से अलग रहता है और मुक्त रहता है।

श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने युक्त योगी का लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्तइत्युच्यते योगी, समलोष्टाष्मकाञ्चनः।।

(गीता)

अर्थात् जिस योगी ने प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ करके उन पर पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह ज्ञान तृप्तात्मा एवं जिसने पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार कर लिया, जिसको पूर्णरूपेण विवेक ख्याति हो गई है, वह विज्ञान-तृप्तात्मा। इसी प्रकार से विवेक ख्याति के द्वारा जिसने अपने स्वरूप को बिल्कुल गुण-धर्मो से अलग कर लिया है वही व्यक्ति कूटस्थ कहलाता है। कोई विकार भी उसे बाधित नहीं करते। उसकी दृष्टि मे लोहा, सोना, पत्थर सब बराबर होता है, ऐसा योगी सर्वथा परिपूर्ण एवं युक्त योगी कहलाता है। ऐसा योगी ही सर्वभाव अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व की शक्ति वाला हुआ करता है, ऐसे योगी को ही पूर्ण एवं युक्त योगी कहते हैं।

श्री पतंजलि का 'पुरुष' विशेष

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भगवान् पतञ्जलिदेव ने अपने अनुभवों की अक्षय निधि योग-सूत्र के द्वारा प्रकट की है श्री पतञ्जलिदेव के योग-सूत्र संसार में 'योग-दर्शन' नाम से विख्यात हैं। योग-दर्शन षट् दर्शनों में एक महत्वपूर्ण दर्शन है। इसके अध्ययन करने वाले व्यक्ति स्वरूपानुभूति की ओर अवश्य ही बढ़ जाते हैं। श्री पतञ्जलिदेव जी ने अपने इस दर्शन में प्रकृति पुरुष विशेष को ही प्रधानता दी है। उनका लक्ष्य है बुद्धि-बोध आत्मा पुरुष स्वरूप प्रतिष्ठत हो जाये। अर्थात् वह अपनी अमर साधना के फलस्वरूप बौद्धेय धर्मों को छोड़कर कैवल्य लाभ प्राप्त करें। इसकी साधना के लिए 'योग-दर्शन' में श्री पतञ्जलिदेव ने अभ्यास, वैराग्यादि का वर्णन करते हुए उपाय प्रत्यय पर बल दिया है। उपाय प्रत्यय का बल लेने वाले योगाभ्यासी साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि के क्रमानुसार अपने आपको साधना में लीन रखते हैं और अपनी कठिन साधना व परिश्रम के फलानुसार वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु यह कार्य विपुल वीर्यवान्, उत्साही साधकों का ही है। जो लोग दृढ़ता से लगे रहते हैं वे अवश्य ही सफल मनोरथ हो जाया करते हैं, किन्तु प्राय: हर एक जिज्ञासु साधक की भावना रहती है कि उसे सरल से सरल अभ्यास बताया जाय, जिससे वह अपने उच्चतम ध्येय को सुगमता से प्राप्त कर ले। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर श्री पतञ्जलिजी के उपदेश— 'श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि प्रज्ञा पूरक इतरेषां।' इत्यादि साधना के प्रकारों को भली प्रकार समझ करके सरलतम् साधना के उत्कट जिज्ञासु ने यकायक प्रश्न कर दिया—

किमेतस्मादेवासन्नतम: समाधिभवत्ययास्य लाभे भवत्य-न्योऽपि कश्चिदुपायो न वेत्ति।

अर्थात् क्या समाधि प्राप्ति के लिए उपरोक्त वर्णित उपायों के अतिरिक्त कोई और सरलतम् उपाय है, जिससे बिना क्लेश के ही समाधि की प्राप्ति हो सके। इसके उत्तर में श्री पतंजलिदेव जी ने कहा— **''ईश्वर प्रणिधानाद्वा''** अर्थात् ईश्वर को आत्म निवेदन करने से भी समाधि सुलभ हो सकती है। व्यास भाष्य में श्री व्यासदेव जी ने भी कहा है कि :

प्रणिधानाद्भक्ति विषेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुप्रह्णात्य भिध्यान मात्रेण तद्भिध्यानादपि योगिन आसन्नतम: समाधि लाभ: समाधि फलं च भवतीति।

अर्थात् ईश्वर को आत्म-निवेदन कर देने से ईश्वर साधक के अभिमुख हो जाता है और वह साधक के शुभ सङ्कल्प को जान करके 'इदमस्याऽभिमतं अस्मि' अर्थात् 'यह जो प्यारी चीज चाह रहा है वह हो जाय।' ईश्वर के इस प्रकार के संकल्प द्वारा साधक को तत्काल समाधि सुलभ हो जाया करती है।

भगवान् पतञ्जलिदेव का इस प्रकार का सरल सा आदर्श पा करके साधक को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने पुन: पूछने की इच्छा प्रकट की—

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्त: कोयं ईश्वरोनामेति।

अर्थात् प्रकृति पुरुष से भिन्न ईश्वर नाम की यह तीसरी वस्तु क्या है और उसकी परिभाषा क्या है? क्योंकि अभी तक वह यह समझता था कि प्रकृति और पुरुष दो ही हैं, जिनकी तीव्रतम् साधना के द्वारा प्रकृति-पुरुष विवेक को ही उसने अपना मुख्य लक्ष्य बनाया था, अब समाधि प्राप्ति के भिन्न उपायों के साथ ईश्वर प्रणिधान का भी सरल रूप उसके सामने आया। **'कोयं ईश्वरो नामेति'** इस प्रश्नके उत्तर में भगवान् पतञ्जलिदेव ने बतलाया :-

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टा: पुरुष विशेष ईश्वर:।

अर्थात् क्लेश-कर्म विपाकादिकों से अपरामृष्टा पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। 'पुरुष' शब्द से बहु संख्यक पुरुषों का संकेत सूत्र से मिलता है। इसीलिए **'पुरुष विशेष: ईश्वर:'** कह करके श्री पतञ्जलिदेव ने पुरुष विशेषत्वेन ईश्वर का प्रतिपादन किया। योग-दर्शन में जिस प्रकृति पुरुष की विवेचना की गई है, उसका सम्बन्ध आत्मा से है और आत्मा क्लेश-कर्म विपाकादि से अपरामृष्ट नहीं है। बुद्धि-बोध आत्मा, पुरुष, जीवात्मा एवं क्लेशकर्म विपाकादि से अपरामृष्ट नित्य सिद्ध शुद्ध बुद्ध सदैव मुक्त साम्यातिशय विनिर्मुक्त ईश्वर्यवान पुरुष विशेष ईश्वर का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण करके भली प्रकार समझा दिया है। इसके आगे—

अविद्यास्मिता राग द्वेषाभिनिवेषा पंच क्लेशा:।

यह पांच क्लेश बतलाये गये हैं। अच्छे-बुरे फलों से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया को कर्म कहते हैं। कर्म-फलों का नाम ही विपाक है और विपाक का अनुसरण करने वाली वासना फल-भोग पर्यन्त कर्माशय में पड़ी रहती है, उसी का नाम आशय है। अर्थात् इसी का नाम कर्माशय हुआ। यह क्लेश कर्म विपाकादि मन म वर्तमान रहते हैं। चेतन पुरुष इनसे बिल्कुल भिन्न हैं। फिर भी क्योंकि वह बौद्धेय ज्ञान को ग्रहण करता है, इसलिये यह सब क्लेश-कर्म विपाकादि जीवात्मा में कहे जाते हैं। क्योंकि वह बुद्धि बोधात्मा होने के कारण इनके फलों को भोगता है। जैसे लड़ाई के मैदान में लड़ने वाले योद्धाओं की ही जीत और हार होती है, किन्तु वह जय और पराजय मानी जाती है उनके मालिक की। जिसके वेतन-भोगी होकर वे लोग स्वामी की जय के लिए तन, मन न्यौछावर करके लड़ रहे हैं। इसी प्रकार से यद्यपि चित्त-शक्ति अपरिणामिनी है।' उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं आता। किन्तु बुद्धि के द्वारा दर्शित विषया होने के कारण क्लेश-कर्म विपाकादि आत्मा में मान लिये जाते हैं। किन्तु पुरुष विशेष ईश्वर इनके भोग से सदा-सर्वदा ही अपरामृष्ट है पुरुष विशेष का नाम ही ईश्वर है।

व्यास भाष्य में ईश्वर का पुरुष विशेषत्व सिद्ध कर देने के बाद एक प्रश्न यह क्रिया गया है कि—

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च वहव: केवलिन: (ते हि तावत् सर्वे ईश्वर: किम्)।

अर्थात् बहुत से केवली लोग इस प्रकार के हैं जो क्लेश-कर्म विपाकादिकों से बिल्कुल मुक्त हो चुके हैं, क्या वे सबके-सब ईश्वर है? अर्थात् क्लेश-कर्म विपाकादि से मुक्त होने के कारण क्यों न उन सबको ईश्वर मान लिया जाय?

श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्वयं ही प्रश्न की कल्पना कर ली और सर्व साधारण को समझाने के लिए इसका उत्तर भी दे दिया। बतलाया कि यह बिल्कुल ठीक है कि मुक्त आत्मा क्लेश-कर्म विपाकादि से मुक्ति पा जाने के बाद इन सबसे अपरामृष्ट है। किन्तु फिर भी इस प्रकार के जितने भी मुक्त पुरुष हैं, वे सबके सब तीन बन्धनों को काट करके केवली भाव को प्राप्त हुए हैं। किन्तु ईश्वर को उन तीन बन्धनों का सम्बन्ध न कभी था और न कभी आगे होगा। जिस प्रकार से मुक्त पुरुष मुक्ति से पहले बन्धन में नहीं था। और जो आत्मा प्रकृतिलीन हैं, उनका चित्त साधिकार है, इसलिए उसके बाद में जब भी वे जन्म ग्रहण करेंगे तब उनका बन्धन होगा ही, पर ईश्वर का नहीं हो सकता। ईश्वर न कभी बन्धन में था और न कभी आगे आयेगा। वह तो सदा ही मुक्त है एवं सदा ही ईश्वर हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न की और कल्पना की गई है कि ईश्वर का जो प्रकृष्ट सत्वोवानादि है अर्थात् जो सात्विक ज्ञान है उसका कारण क्या है? या उसका कारण कोई है ही नहीं। इसके उत्तर में बतलाया गया है कि उसका निमित्त कारण वेद है। फिर प्रश्न किया कि वेद का क्या निमित्त है? उत्तर में बतलाया कि उसका निमित्त कारण ईश्वर है।

एतयी: शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्तमानयोरनादि: सम्बन्ध:।

अर्थात् शास्त्रोत्कर्ष और ईश्वर सत्व का परस्पर अनादि सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध अनवरत था और अनवरत ही रहेगा। यही योग-दर्शन का पुरुष-विशेष ईश्वर है, जिसके आत्म-समर्पण से समाधि-सिद्धि होती है।

योगी की सर्वाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति तथा कैवल्य लाभ

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने अपने 'सिद्धयोग' के अक्टूबर मास के अङ्क में इन्द्रियजय की सिद्धियों का वर्णन किया था एवं उससे पहले अगस्त मास के अङ्क में इन्द्रियजय का साधन लिखा था। उसमें हमने यह समझाया था कि इन्द्रियों के ग्रहण स्वरूप अस्मिता-अन्वय एवं अर्थवत्व इन पांच न्यारे-न्यारे स्वरूपों में संयम करने से इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण जय प्राप्त हो जाया करती है और जिसमें योगी संयम के बल से इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त कर लेता है अर्थात् उनके, ग्रहण स्वरूप अस्मिता-अन्वय और अर्थवत् रूपों में संयम करके उनकी स्वरूप सत्ता को भली प्रकार समझ करके तत्तद्धिकारों में विजयी बन जाता है, तभी उसको इन्द्रियजय की सिद्धि उपलब्ध होती है और इन्द्रियजय के बाद इन्द्रियजय के प्रभाव से योगी के अन्दर तीन अद्भुत प्रकार की महाशक्तियों का उदय हो जाया करता है। इन तीनों को भगवान पतञ्जलिदेव एक सूत्र में स्पष्ट कर रहे हैं :—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

(१) मनोजवित्वं—

अर्थात् योगी मन के वेग वाला बन जाता है। जहां-जहां उसका मन पहुँचता है वहां-वहां उसका शरीर भी पहुँच जाता है, यही मनोजविता सिद्धि का सही अर्थ है।

(२) विकरणभावः—

विकरणभाव का अर्थ है- सपश्यत्यचक्षुसश्रुणोत्यकर्णः। अर्थात् वह बिना नेत्रों के देखता है और बिना कानों के सुनता है अर्थात् आंख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के वर्णभूत गोलकों के बिना ही देखना, सुनना, सूँघना, रस ग्रहण करना आदि कार्य योगी के होते रहते हैं, इसी नाम का विकरणभाव है।

(३) प्रधान जय—

अर्थात् मूल प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना। जिस समय योगी अपनी इन्द्रियजय की शक्ति से प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करता है तो उसका प्रकृति के तत्वों पर पूरा-पूरा अधिकार हो जाया करता है। यह योगी प्रकृति के सभी विश्लेषणों पर अधिकार प्राप्त करके सभी कुछ करने की ताकतों वाला बन जाया करता है। भगवान पतञ्जलिदेव स्वयं इन भावों की पुष्टि करते हुए बतलाते हैं।

परमाणु महत्त्वान्तोस्य वशीकारः

अर्थात् योगी की संयम शक्ति इनती बढ़ जाती है कि वह प्रकृति के सूक्ष्म तत्व अंश परमाणु एवं महत्तत्व अर्थात् मूल प्रकृतिपर्यन्त उसका सब प्रकार से पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाया करता है। यही प्रधान जय का निष्कार्षिक अर्थ है। जिस समय योगी संयम के बल से प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करता है तो उसको पूर्णरूपेण प्रकृति विवेक हो जाता है अर्थात् वह योगी यह भली प्रकार से जानता है कि प्रकृति अलहदा है और पुरुष अलहदा है। मैं प्रकृति से भिन्न नित्य चेतना आत्मा हूँ। मेरी चेतन-सत्ता के आधीन ही प्रकृति की सभी हरकतें हो रही हैं। संयम के बल के योगी के मन में जब ऐसी धारणा हो जाती है तब योगी को सर्वाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति का पूर्णरूपेण उदय हो जाया करता है। भगवान पतञ्जलिदेव के अर्थों में—

सत्त्वपुरुषान्यता ख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।।

अर्थात् योगी को प्रकृति पुरुष विवेक प्राप्त हो जाने के बाद उसको प्रकृति पर सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्व ज्ञातृत्वेन पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाया करता है। इस पर पढ़िये व्यास भाष्य की पंक्तियें—

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायाम् वर्त्तमानस्य सत्त्व पुरुषान्यताख्यातिमात्ररूप प्रतिष्ठस्थ सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वात्मनो गुणा व्यवसाय-व्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेष दृश्यात्मत्वेनोपतिष्ठन्त इत्यर्थः, सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मना गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवर्सिथतानामक्रमोपारूढ़ विवेकजं ज्ञानभित्यर्थ, इत्येषा विशोकानाम सिद्धिः, याम्प्राप्य योगी योगी सर्वज्ञः क्षीण-क्लेशबन्धनो वशी विहरति।

अर्थात् जिस योगीं के रज तम रूपी मल सात्विक बुद्धि के प्रकाश में वैराग्य युक्त होकर वर्तमान होने पर बुद्धि और पुरुष की विवेक ख्याति रूप स्थिति में स्थित हो जाने पर सर्वभावाधिष्ठातृत्व नाम की ताकत एवं अन्तःकरण के निश्चित अनिश्चित सभी प्रकार के अनुभव करने वाले

योगी को हर वक्त ज्ञात रहते हैं, इसी से योगी का सर्वज्ञातृत्व अधिकार बढ़ जाता है। अन्त:करण के सर्व धर्म भूत भविष्य एवं वर्तमान में होने वाले उन सभी का योगी को बुद्धि विवेक के द्वारा पूर्ण ज्ञान रहता है। इस प्रकार यह विशोका नाम की सिद्धि योगी को प्राप्त हो जाती है ऐसा योगी सभी क्लेश बन्धनों को क्षीण करके यदृच्छा गति से स्वतन्त्र विचरने वाला होता है। यही योगी का परम वैशारद्य है। इसको प्राप्त हो करके सभी मोह बन्धनों से छूट कर योगी अपने को परम भाव में स्थित देखता है। वह भली प्रकार से जान लेता है कि मैं अब अपनी प्राप्त वस्तु को पा चुका हूँ। किन्तु अनुभव करने वाली बुद्धि अभी उसके अन्दर मौजूद है जो इस समाधि की परास्थिति रूप से स्थित है। उसके विलम्ब होने के बाद ही योगी कैवल्य लाभ कर सकेगा। अब भी इसकी ये स्थिति कैवल्य जैसी ही है। यह वृत्ति इस प्रकार की है जिसने रज तम आदि के घोर मलों को तो खत्म कर डाला किन्तु स्वयं अन्यताख्यातिमात्र बोध से विद्यमान है। जब तक यह बुद्धि रहेगी तब तक कर्तृव्य भाव बीज-रूप से कायम है ही। जब योगी इस दोष बीज को क्षय कर डालेगा तब वह यथार्थ रूप में स्वरूप स्थित हो जायेगा। इसका उदाहरण इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जिस तरह अग्नि की चिनगारी सभी गीले सूखे काष्ठों को जलाकर स्वयं भी समाप्त हो जाया करती है। इसी प्रकार से 'सत्व पुरुषान्यताख्यातिमातृस्य' यह बुद्धि भी आत्मा को स्वरूप स्थित कर स्वयं भी स्व-स्वरूप में विलीन हो जाया करती है। तभी योगी का यथार्थ कैवल्य है। इसी भाव को श्री पतंजलि जी महाराज अपने शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे हैं-

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

व्यास भाष्य इस सूत्र पर—

यदाऽस्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेक प्रत्ययोधर्म:, सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोन्य सत्त्वादिति, एवं अस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीज कल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति।

अर्थात् जब योगी को इस प्रकार बोध हो जाता है तब बुद्धि सत्व का भी विवेक ज्ञान रूप यह धर्म है। क्योंकि क्लेश कर्म के क्षय हो जाने पर बुद्धि सत्त्व ही अवशेष रह जाता है और वह एक प्रकार से क्लेश कर्म निवृत्ति के लिए साधन रूप ही है। अत: यह भी ह्येय पक्ष में ही है। क्योंकि पुरुष अपरिणामी है और बुद्धि सत्व से अलहदा है। इस प्रकार से पुरुष के अपरिणामी एवं बुद्धि सत्व से भिन्न होने के कारण इस बुद्धि सत्व से भिन्न होने के कारण इस बुद्धि सत्त्व से भी विरक्त हो जाने पर भुने हुए धान की तरह से यह मन के साथ स्वत: ही खत्म हो जाते हैं। एवं अपरिणामी पुरुष बुद्धि सत्व से विमुक्त होकर कैवल्य लाभ करता है। कैवल्य की परिभाषा भगवान पतंजलिदेव ने विभूति-पाद के पिछले सूत्र में—

सत्त्व पुरुषयो: शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति।

कह कर ही कैवल्यता की अभिव्यक्ति की है अर्थात् जिस समय प्रकृति और पुरुष की बुद्धि बराबर हो जाती है जीवात्मा अपने अपरिणामी स्वरूप में स्थित हो जाता है और गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है। तभी योगी को कैवल्य लाभ होता है। इसी का नाम स्वरूप प्रतिष्ठा है। ऐसी स्थिति आ जाने पर पुरुष अमल निर्मल ज्योति कैवली भाव में रहता है दग्ध-कल्प बीज हो जाने के कारण स्थिति में उसके ऊपर गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अर्थात् चित्त शक्ति अपरिणामिनी अप्रतिसंक्रमा होकर कैवल्य लाभ करती है। इसी स्थिति में जा करके योगी जन्म-मरण के एवं तरह-तरह के भोगों से छूट कर अपने स्वरूप में स्थित होता है।

देवताओं के निमंत्रण और योगी का कर्त्तव्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भगवान पतञ्जलि देव ने **'द्विविधो योगः'** कहकर के योग को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया, यह संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात इन दो नामों से द्विविध है। जिनमें संप्रज्ञात समाधि का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्कानुगत पहली श्रेणी विचारानुगत दूसरी श्रेणी आनन्दानुगत तीसरी एवं अस्मितानुगत चौथी। यह श्रेणी संप्राज्ञात योगी की हैं। संप्रज्ञात योगकी इन इन चारों श्रेणियों में योगी किन-किन विषयों का कैसे-कैसे अनुभव करता है, इसका सांकेतिक रूप से विवरण श्री व्यासदेव जी ने इस प्रकार लिखा है—

वितर्क समाधि—

चित्तस्यालम्बेन स्थूल आभोगः।

अर्थात् योगी जिस समय सवितर्क समापत्ति में संयम करता है उस समय उसको पंच महाभूतों के स्थूल स्वरूपों का साक्षात्कार होने लगता है। उसको सवितर्का समापत्ति कहते हैं। इस समाधि में स्थूल महाभूतों के साक्षात्कार में योगी के सामने भूमण्डल के दृश्य आते रहा करते हैं; जैसे पर्वतीय दृश्यों का आना, सुन्दर-सुन्दर नदियों एवं समुद्र आदि के दृश्यों का देखना, दहदहाती अग्नि एवं ज्वालाओं का देखना, एवं विविध प्रकार के दिव्य रूपों का साक्षात्कार, तेज चलती हुई वायु का अनुभव होना, इसी प्रकार आकाशादि का प्रत्यक्षीकरण, यह इस वितर्कानुगत योग का खास विषय रहता है। इस अनुभूति के बाद में—

विचारानुगत योग—

इस विचारनुगत समाधि में योगी महाभूतों के सूक्ष्म रूपों का साक्षात्कार करता है जैसे पृथ्वी का रूप गन्धतन्मात्र, जलका सूक्ष्म रूप रस तन्मात्र और अग्निका रूप तन्मात्र-वायु का सूक्ष्म रूप स्पर्शतन्मात्र और आकाश का सूक्ष्म रूप शब्द तन्मात्र आदि आदि का योगी को साक्षात्कार होता है और इसके साथ ही साथ दिव्य देवलोक जो इस मनुष्य लोक की अपेक्षा सूक्ष्म रूप से अवस्थित हैं उनका साक्षात्कार भी योगी को होता रहा करता है। इसके बाद तीसरी श्रेणी—

आनन्दानुगत योग—

की है, इस समाधि में योगी हार्दिक आह्लाद को प्राप्त होकर आनन्द विभोर रहा करता है। इस समाधि में योगी रोग, शोक तथा चिन्ताओं से रहित हो जाता है। इसीलिए इस योग का नाम आनन्दानुगत योग है। इस समाधि में शोक रहित विशुद्ध तेज के अन्दर योगी आमोद के साथ भ्रमण करता है। इसी समाधि का अभ्यास करते-करते योगी अस्मितानुगत योग में प्रवेश कर जाता है। और उसके बाद वह योगी अपने आप को उस चित-सत्ता के अन्दर विलीन देखता है। इसी का नाम अस्मितानुगत समाधि एवं अस्मितानुगम योग है। अस्मिता का लक्षण भगवान पतञ्जलि देव ने इस प्रकार लिखा है—

दृग्दर्शनशक्तयों रेकात्मतेवास्मिता।

अर्थात् दृग्शक्ति और दर्शन-शक्ति (दृग्शक्ति जीवात्मा, दर्शन शक्ति बुद्धि) यह दोनों जब एक रूप में भाषित होते हैं उसी का नाम अस्मिता है। इसी को जड़ और चेतन की गाँठ कहा करते हैं। इस योग में विवेक-ख्याति को प्राप्त हुई बुद्धि अस्मि-अस्मि इस प्रत्यय के द्वारा आत्माकार से भाषित होती रहती है। यही संप्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ हैं। इनमें से जिस समय योगी संप्रज्ञात योग की दूसरी श्रेणी विचारानुगम योग में प्रवेश करता है एवं इसको दिव्य-देवलोक के साक्षात्कार होने लगते हैं तो योगी की अन्तःकरण की शुद्धि और उत्कृष्ट स्थिति को देखकर ततत देवलोकों के स्थानाभिमानी देवता इस योगी का आदर करते हैं, एवं अपने-अपने लोकों में ले आने को निमन्त्रित करते हैं। उस समय योगी का क्या कर्त्तव्य है इसका पूरा-पूरा निर्देश भगवान पतञ्जलि देव ने अपने निम्नांकित सूत्र में किया है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात्।

अर्थात् जिस समय इसके आत्मोत्थान को देखकर के स्थानाभिमानी देवता योगी का निमन्त्रण करें तो उनके प्रलोभन में नहीं आना चाहिए। एवं न ही किसी प्रकार का अभिमान करना चाहिए। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यास देव जी ने सभी बातों का स्पष्टीकरण करते हुए योगी को क्या शिक्षा दी वह सब पढ़िये। व्यास देव के भाष्य की पंक्तियाँ—

चत्वार: खल्वमी योगिन:- प्रथम कल्पिक:, मधु भूमिक: प्रज्ञाज्योति:, अतिक्रान्त भावनीयश्चेति, तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र ज्योति: प्रथम: ऋतम्भर प्रज्ञो द्वितीय:, भूतेन्द्रजयी तृतीय:, सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्ध: कृत कर्तव्यसाधनादिमान्, चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्त भावनीयस्तस्य चित्त प्रितिसर्ग एकोऽर्थ: सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा, तत्र मधुमतीं भूमि साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मण स्य स्थानिनो देवा: सत्वशुद्धिमनुपश्यन्त: स्थानै- रूपनिमन्त्रयन्ते भोरिहास्यतामिह रम्यतां, कमनीऽयोयं भोग: कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्य बाधते। वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्र मा, पुण्य मंदाकिनी, सिद्धा: महर्षय:, उत्तसा अनुकूला अप्सरस:, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषो बज्रोयम: काय:, स्वगुणै: सर्वमिदमुपार्जितमायुष्यता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरमर स्थानं देवानां प्रियमिति, एवमविधीयमान: सङ्गदोषात् भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानेन कथञ्चिदासादित: क्लेशतिमिर विनाशों योगप्रदीप:। तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायन: प्रतिपक्षा:। सखल्वहं लब्धालोक: कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुन: प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्य्यामिति। स्वस्तिव: स्वप्नोपमेभ्य: कृषणजन प्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य: इत्येवन्निश्चितमति: समाधि- म्भावयेत्। संगमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यात्। एवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितं मन्यतयामृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मनं न भावयिष्यति। तथा चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षीनित्यं यत्नोपचर्य्य: प्रमोदलब्धविवर: क्लेशानुत्तम्भयिष्यति तत: पुनरनिष्ट प्रसङ्ग:। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढ़ी भविष्यति भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्पतीति।

अर्थात् ये चार प्रकार के योगी होते हैं, जिसमें—

(१) प्रथम कल्पित, (२) मधु भूमिक :

(३) प्रज्ञा ज्योति (४) अति क्रान्त भावनीय।

इनमें से नं. १ जिस योगी ने प्रथम अभ्यास शुरू किया है, वह प्रवृत्रमात्र ज्योति कल्पित योगी है। दूसरा जिसको स्फुट प्रज्ञालोक हो चुका है, जिसकी बुद्धि ऋतम्भरा बन गई है वह मधु-भूमिक : नाम का योगी है। तीसरा प्रज्ञा ज्योति नाम का वह योगी है, जिसने पंच महाभूतों और इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण जय प्राप्त कर ली है। चौथा योगी अतिक्रान्त भावनीय नाम का है, जिसने भावित और भावनीय पर अधिकार प्राप्त कर लिया है एवं कृत-कर्त्तव्य साधना वाला है, इसकी सीमान्त प्रज्ञा सप्तविधि होती है। जिस समय योगी मधुमति भूमिका साक्षात्कार करता हुआ आगे बढ़ता है तो उसके सत्वोत्कर्ष को देखकर स्थानिनी देवता लोग उसका आदर करते हैं और कहते हैं ओह! महात्मन् यहां आइये यहीं निवास कीजिए, यह बहुत ही सुन्दर भोग हैं। कमनीयम् कन्या-यह कन्या बहुत सुन्दर है, यह रसायन है जो बुढ़ापे और मौत को पास नहीं आने देती, यह आकाशगामी यान है। यह कामना पूर्ण करने वाले कल्प-वृक्ष हैं। यह पवित्र मन्दाकिनी नदी है। इधर यह महर्षि सिद्ध लोग हैं। यह देखो उत्तम मनोनुकूल चलने वाले अप्सरसा लोग हैं। इस लोक में दिव्य श्रोत्र और दिव्य चक्षु हर समय प्राप्त रहते हैं। परम सुन्दर एवं वज्र के समान तुम्हारा शरीर है। यह सब कुछ कुछ तुमने अपने पुरुषार्थ एवं तप के द्वारा प्राप्त किया है। यह अजर-अमर देवताओं के रहने के स्थान हैं। इस प्रकार से प्रार्थना किया जाता हुआ योगी संग दोषों की भावना करें, और यह सोचे कि संसार के तपे हुए अंगारों से जलते हुए मैंने बार-बार जन्म और मौत के चक्कर में पड़कर बड़ी भारी कठिनता के साथ क्लेश और अन्धकार का नाश करने वाले इस पवित्र योग प्रदीप को प्राप्त किया है, और यह तृष्णा आदि की विषैली वासना की वायु इस योग प्रदीप के बिलकुल विपरीत और विरोधी हैं। सो लब्धा लोक में मैं इस विषय मृग तृष्णा के जाल में फँस कर संसार की दहदहाती हुई अग्नि में क्यों अपने आपको ईंधन रूप बनाऊँ। इसलिए अय देवताओं यह सब भोग तो स्वप्न रूप हैं इन भोगों से दीन-हीन लोगों को लुभाया जा सकता हे। इन सब भोगों से आप लोग ही सुख भोगें। यह कह करके योगी अपनी समाधि का ही अभ्यास करें, और उसके साथ-साथ 'एषमहं देवनामपि प्रार्थनीयो जात:' इस घोर अहंकार को अपने आप को काल पाश में बंधा हुआ जानकर त्याग दे। यदि योगी थोड़ी सी भी लापरवाही करेगा तो यह क्लेश लब्ध विवर होकर उस योगी पर आरूढ़ हो सकते हैं। इस प्रकार से संगस्मय से निवृत्त हुए योगी को समाधि में दृढ़ता प्राप्त होगी और उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता की ओर बढ़ता जायेगा।

इसी प्रकार के संग-दोष को हटाने के लिए योगियों ने अपना स्थान वनस्थली रक्खा है। यह लोग किसी का सम्पर्क नहीं रखते, सदा-सर्वदा असंग रह कर अपने अध्यात्म स्वरूप में विलीन रहा करते हैं। क्योंकि 'सन्सर्गजा दोष गुणा भवन्ति' दोष एवं सब प्रकार के गुण संसर्गसे पैदा हुआ करते हैं। ऐसे निर्मल एकांत सेवी महात्मा ही अपने नित्य चेतन स्वरूप को पाकर निहाल हुआ करते हैं। अन्यथा एक साधारण नियम-सा चलता है, संसार में किसी के पास कोई धन हो जाय तो डाकू लुटेरे उसके पीछे लग जाया करते हैं। इस ही प्रकार अध्यात्म धन की भी बात है। जिसका आत्मोत्कर्ष ऊँचा हो जाता है प्रतिस्पर्धा वाले लोग उनको हर समय गिराने की चेष्टा करते रहा करते हैं। यह ईर्ष्या-द्वेष आदि के मल स्वर्गीय देवताओं में भी भरपूर रहते हैं। मनुष्य लोक से कोई भी व्यक्ति

अध्यात्म प्रधान होकर आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ता है तो वह देवताओं के लिए असहनीय हो जाता है। वे लोग सोचते हैं कि यह अभी तक हमारा सेवक था और अब हम से भी ऊँचा बढ़कर हमारे भी स्वामित्व की ओर जा रहा है। इसीलिए उसके रास्ते में अन्तराय पैदा किया करते हैं। हमें इस समय साधकों के साथ बीती हुई एक घटनाओं का स्मरण हो रहा है, जिनके रास्ते में इस प्रकार के अन्तराय पैदा हुए और वे अन्तरायों से अभिभूत भी हो गये। योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्ध गुफा-सवांई के आध्यात्म प्रधान कई साधकों के मार्ग में कई प्रकार के अन्तराय पैदा हुए। और उनमें से जो लोग अनन्य गुरु भक्त और निष्ठावान थे एवं विषैले वासना जाल से बचना चाहते थे वे लोग सर्व शक्तिमान प्रभु की कृपा से सुरक्षित रहे- किन्तु जिन्होंने भी यत्किञ्जित् अपने मन को इस प्रवाह के अन्दर प्रवाहित करना चाहा वे अपने आप को नहीं ही सम्भाल सके।

रमणीगिरि नागा—

आश्रम में नागा संन्यासियों के संप्रदायों से रमणीगिर नाम का एक साधु आया। उसने योग साधना की शिक्षा प्राप्त की, सभी लोक लोकान्तरों को दिव्य दृष्टि के द्वारा देख लिया किन्तु बाद में उसको स्वर्गीय दृश्य देखने की आदत पड़ गई। जब श्री गुरुदेव जी ने उसको यह दृश्य देखने से मना किया तो उसको प्रलोभन कारी देवताओं ने आश्रम से चले जाने का परामर्श दिया। और उपरोक्त सूत्र के अन्दर जो बातें बतलाई गई हैं, उस ही प्रकार के कमनीयमं कन्या के लालच भी दिये गये। उसको कहा गया कि तुम यहां से हटकर अमुक वनमें तप करो तो तुम्हें वहां सभी स्वर्गीय भोग प्रत्यक्ष में प्राप्त होंगे। वह वहां से चला तो गया, स्वर्गीय भोग तो कुछ नहीं प्राप्त कर सका किन्तु इस लोक के ही रूप-रंग में फँसकर अपने आप को परम पवित्र अध्यात्म मार्ग से वंचित कर लिया।

योगाभ्यासी ब्रह्मचारी हरिभक्त चैतन्य

यह ब्रह्मचारी जम्बू-काश्मीर प्रान्त के उत्तम योगाभ्यासी साधक हैं। जिस समय ये वहाँ के घोर वनों में घोर तपश्चर्या करते थे, तो इनके सामने भी इस प्रकार के अन्तराय पैदा हुए। देव-कन्यायें आदि को इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से देखा, किन्तु यह अपनी अध्यात्म-निष्ठा के बल पर अपने आपको सम्भाल गये एवं अपनी अध्यात्म निष्ठा को अडिग रक्खा। अत: प्रत्येक साधक को चाहिए कि सांसारिक विषैले जाल से अपने आपको बचायें। जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्ति पायें। इस वासना-जाल से दूर रहना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। आदिनायक भगवान श्रीकृष्ण के इस उद्देश्य को सामने रखना चाहिए।

निर्मान मोहा जितसंग दोषा,

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा।

द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदु:ख संज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढ़ा पदमव्ययं तत्।।

अर्थात् जो साधक मान-मोह से परे है एवं संग दोषों पर जिसने काबू पा लिया है, नियमानुसार अध्यात्म-परायण है, कामनाओं के गर्त से निकल गया है, सुखदु:ख संज्ञक द्वन्द्वों में अतीत हो गया है, ऐसे ही लोग अव्यय पद को प्राप्त किया करते हैं।

संयम से भुवन ज्ञान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

'सिद्धयोग' के कतिपय पिछले अंकों में हमने 'योग-दर्शन' के विभूतिपाद में वर्णित विभूतियों के स्पष्टीकरण के लिए कुछ लेख प्रकाशित किये थे। आशा है पाठक समुदाय उन लेखों को पढ़कर अपने आपको योग-मार्ग पर चलने के हेतु प्रयत्नशील हुआ होगा। 'सिद्धयोग' में प्रवृत्या लोकन्यास से सूक्ष्म से सूक्ष्म छुपे हुए और दूर की वस्तुओं के ज्ञान को शीघ्रता से साधक प्राप्त कैसे कर लेता है, इस पर भी हम प्रकाश डालते रहे हैं। भगवान पतञ्जलिदेव ने इससे भी अधिक हितकर **'भुवनज्ञान'** का उपदेश किया है। हमारे कुछ लेखों को पढ़ करके पाठक यह भी भली प्रकार समझ गये होंगे कि योगी को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए संयम के बल की आवश्यकता रहती है और संयम समाधि के दृढ़तर अभ्यास से ही सिद्ध होता है।

समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को ही संयम कहा जा सकता है। संयम की परिभाषा लिखते हुए श्री पतञ्जलिदेव ने **'त्रयमेकत्रसंयमः'** कहकर के संयम की परिभाषा को समझाया है। अर्थात् योगी का मन धारणा, ध्यान समाधि तीनों में एक विषयक रहे यानी व्यवधान रहित रहे तब योगी की लगाई हुई समाधि ही संयम का रूप धारण कर लेती है। फिर उस योगी का मन इतना संयमित बन जाता है कि वह जब जहां अपने मनकों लगाना चाहेगा लगा देगा और परिणाम स्वरूप तब वह उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेगा। सूक्ष्म व्यवहित एवं **'विप्रकृष्ट'** ज्ञान के बाद भगवान पतञ्जलिदेव **'भुवन ज्ञान'** का उपदेश करते हैं।

श्री पतञ्जलि जी ने लिखा है **'भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात'** अर्थात् सूर्य में संयम करने से योगी को अनायास ही सारे भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। देखना चक्षु का विषय है। मनुष्य की आँखों में रोशनी होती है तो वह स्थूलरूप की सब वस्तुओं को देख ही सकता है पर जिसकी आंखों में रोशनी ही न हो तो वह देखेगा ही क्या! योगी को दूरदर्शन, दूरस्पर्शन आदि की शक्ति तपके द्वारा उपलब्ध हो जाया करती है किन्तु दूर-दर्शन, दूर स्पर्शन भी तभी हो सकता है जब कि योगी के अन्दर दृक्शक्ति एवं स्पर्शन शक्ति बनी हुई हो। स्पर्शन-शक्ति के मौजूद रहने पर ही योगी दिव्य देवलोकों तक का स्पर्श कर सकता है। यदि यह शक्ति योगी के अन्दर नहीं है तो वह शक्ति का विकास नहीं कर सकता। बीज से ही वृक्ष बनता है। योगी अपनी आंखों से थोड़ी दूर तक के विषयों को देख सकता है किन्तु यदि उसकी आँखों पर खुर्दबीन या दूरबीन का चश्मा चढ़ा दिया जाये तो वह कई-कई मील की दूरी तक देख सकता है। सूर्य अग्नि तत्व का केन्द्र है योगी जिस समय अपनी दृक्-शक्ति को अर्थात् अपनी आँख की शक्ति को सूर्य के तेज से मिला देगा तो भुवन मात्र के सभी दृश्यों को भली प्रकार से देख लेगा, क्योंकि योगी की आँख की शक्ति अब परिमित नहीं अपितु वह एक अपरिमित शक्ति से मिलकर अपरिमित हो गई है। अतः भुवन मात्र में जहाँ-जहाँ सूर्य की रश्मियाँ पहुँचगीं वहाँ-वहाँ के ज्ञान को योगी अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। अब रही बात यह कि हर साधक संयम के अर्थ को भली प्रकार से समझता भी है या नहीं? सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान प्राप्त तो अवश्य ही हो जाता है बशर्ते योगी को सूर्य में संयम करने की विधि का ज्ञान यथार्थ में हो। कितने ही लोग तो संयम के अर्थ को शक्ति का रोकना मात्र ही समझते हैं और किसी से बिना पूछे बिना सोचे-समझे देदीप्यमान सूर्यमण्डल के अन्दर त्राटक की विधि से देखना आरम्भ कर देते हैं और थोड़े ही दिनों में परिणाम दुष्परिणाम के रूप में सामने आ जाता है और वह नेत्र-शक्ति से खाली हो बैठते हैं। बीज से वृक्ष को बनाया जा सकता है। किन्तु यदि बीज को पहले ही आग में भून दिया जाय तो वृक्ष तो बनाना दूर रहा वह बीज ही नष्ट हो जावेगा। पिछले दिनों चण्डीगढ़ में जिस समय हिन्दी आन्दोलन शुरू हुआ, उस आन्दोलन में एक व्यक्ति ने विधान भवन के सामने बैठ करके सूर्य को त्राटक विधि से देखना आरम्भ कर दिया। जब कोई पूछता 'क्या कर रहे हो' तो वह कहता है कि मैं सूर्य में संयम करके सारे भुवन को एक साथ देखने की ताकत पैदा कर रहा हूँ किन्तु तीन दिन के अन्दर ही उसकी साधना का दुष्परिणाम सामने आ गया और वह मनुष्य नेत्र की ज्योति से रहित हो गया। वस्तुतः संयम इस विधि का नाम नहीं। योगियों का सूर्य, नाभिमण्डल में वास करता है। योग-विधि से उसी सूर्य में संयम करने से योगी को भुवन ज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार कायव्यूह में संयम करने से योगी को कायव्यूह का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्री व्यासदेव जी ने इस सूत्र पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा है जिसमें बहुत से लोकों का वर्णन किया है। जिस समय योगी सूर्य में संयम करता है तो भुवन ज्ञान के साथ उन सभी लोकों को देख डालता है। श्री व्यास देव जी का यह भाष्य पाठकों के हितार्थ ज्यों का त्यों यहां उद्घृत कर उसके अर्थ को संक्षेपतः हम नीचे लिख रहे हैं, जिसको पढ़कर साधक यह समझ सकेंगे कि सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान की कितनी बड़ी शक्ति योगी को प्राप्त हो जाया करती है।

व्यास भाष्य—

तत्प्रस्तारः सप्त लोकाः। तत्रावीचेः प्रभुति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवात् ग्रहनक्षत्रतारा

विचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्र-स्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा-जनलोकस्तपो लोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः,
प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो,
दिवि तारा भुवि प्रजाः।।

इति।।

संग्रहश्लोकः। तत्रावीचेरुपर्य्युपरि निविष्टाः षणमहा-नरकभूमयो धनसलिला नलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महा-कालाम्बरीषरौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्म्मोपार्ज्जित-दुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्माक्षिप्य जायन्ते ततो महा-तलरसातलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवेदूर्य्य स्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः। श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः कुरुण्टकाभः उत्तरः। दक्षिण पार्श्वे चास्य जम्बूर्यतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्य्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव वर्त्तते। तस्य नीलश्वेतशृंगवन्त उदीचीनास्त्रः पर्वताः द्विसहस्रयामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनव योजन साहस्राणि रमणकं हिरणमयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रयामाः। तदन्तरेपुत्रीणि वर्षाणि नवनव योजनसहस्राणि हरिवर्ष किंपुरुषं भारतमिति सुमेरोः प्राचीना भद्राश्च माल्यवत्सीमानः प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादन-सीमानः। मध्येवर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिंशि तदर्धे न व्यूढम्।

स खल्वयं शतसाहस्रयामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौंचशाल्मलगोमेद (प्लक्ष) पुष्करद्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्द-धिमण्डक्षीरस्वादूदर्काः सप्तसमुद्रपरिवेष्ठिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्व्वतपरिवाराः पञ्चशद्योजनकोटिपरिसख्याताः तदे-तत् सर्व्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डञ्च प्रधाना-स्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देव निकाया असुर-गन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्र ह्म राक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषुद्वीपेषु पुण्या-त्मानो देवमनुष्याः।

सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्ध वायुविक्षेपनिय-मेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा दिवि वि-परिवर्त्तन्ते।

माहेन्द्रनिवासिनाः षट्देवनिकायाः त्रिदशा अग्निष्वात्ता याभ्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति। सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्य्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधि देवनिकायः कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः।

द्वितीय तपसि लोके त्रिविधो देव निकायः आभास्वरा महाभास्वराः सत्य महाभास्वरा इति। ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वम-प्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गायुषः।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्ध-निवासाः सविचारध्यानसुखाः सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, सज्ञासज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। ए एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति। एतद्योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्य्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्व दृष्टमिति।

अर्थात्- भुवन का विस्तार सात लोकों का समूह है। उसमें अवीची से मेरुपृष्ठ तक भूलोक कहलाता है। मेरुपृष्ठ से ध्रुव पर्यन्त तक ग्रह नक्षत्र एवं तारागण से चित्रित अन्तरिक्ष लोक हैं। उससे आगे पाँच प्रकार के स्वर्लोक हैं। उन पांच प्रकारों में प्रथम भूलोक से तृतीय महेन्द्रलोक है, चतुर्थ प्राजापत्य महर्लोक हैं। उसके बाद तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है। उनके नीचे महर्लोक, माहेन्द्र स्वर्लोक के नाम से कहा जाता है। उसके नीचे तारागणों से युक्त द्युलोक एवं उसके नीचे भूलोक है। उनमें अवीची के ऊपर क्रमशः छः नरक भूमियां बताई गई हैं। वे धन, सलिल, अनल, अनिल, आकाश तथा तल में ठहरी हुई हैं। उनके नाम क्रमशः महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र एवं अन्धतामिश्रय हैं। जहां अपने कर्मानुसार जीवगण दुःख योनी महाकष्ट दीर्घायु लेकर भोगते हैं। उसके बाद महाकष्ट रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नामक सात पाताल हैं। सप्तद्वीप वाली यह पृथ्वी अष्टम है।

काञ्चन पर्वतराज सुमेरु इसी के भीतर है। उसके बाद राजत, वैदूर्य, स्फटिक एवं हेममणि युक्त शृंग-समूह हैं। उनमें से वैदूर्य प्रभा से रञ्जित होने के कारण आकाश का दक्षिणी भाग नीलोत्पल के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत तथा पश्चिम स्वच्छ है और उत्तर भाग स्वर्णाभ है। इसके दक्षिण कक्ष में जम्बू है, उसी से इसका नाम जम्बूद्वीप कहलाता है। सुमेरु पर्वत के चारों ओर सूर्य के निरन्तर भ्रमण करने के कारण वहां दिन और रात निरन्तर लगे से दिखाई देते हैं अर्थात् सूर्य जिस तरफ बढ़ता है, उस तरफ दिन और जिस तरफ से निकलता हुआ चला आता है, उस तरफ रात दिखाई देती है। सुमेरू की उत्तर दिशा में दो हजारा योजन विस्तार वाले नीले, श्वेत तथा शृंगवल नामक तीन पर्वत हैं। उनके भीतर रमणक हिरण्यक और उत्तर कुरु नामक तीन वर्ष हैं। उनका विस्तार नौ-नौ हजार योजन है। दक्षिण दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले निषिद हेमपूर्व तथा हिमशैल हैं। उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले हरिवर्ष किमपुरुषवर्ष तथा भारतवर्ष नाम के तीन वर्ष हैं। सुमेरु के पूर्व भाग में माल्यवान तक भद्राश्च तथा पश्चिम में गन्ध मादक तक केतुमाल हैं। उनमें इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीप का परिमाण सौ हजार योजन है। वह सुमेरु पर्वत के चारों ओर पचास हजार योजन तक फैला है। इस प्रकार से सौ हजार योजन जम्बूद्वीप और इससे दूने गोलाकार लवणोदधि से घिरा है। इसके बाद क्रमश: शाक, कुश, कौञ्च शाल्मल, मलज और पुष्कर द्वीप है। इनमें से प्रत्येक ही पहले ही अपेक्षा से दुगना सप्त समुद्र सर्पो के घेर के समान विचित्र शैल मण्डित हैं, जिनके नाम लवण समुद्र के अतिरिक्त इक्षुरस सुरा, घृत, दधि, मण्ड और दूध जैसे स्वादिष्ट पानी वाले हैं। पचास करोड़ योजन गोलाकार सप्तद्वीप लोक पर्यन्त समुद्र घिरे हैं। यह सब अण्ड के अन्दर हैं और ये अण्ड भी प्रधान प्रकृति का अणु अवयव है, जैसे आकाश में खद्योत हुआ करते हैं। इस सब पाताल में जलधि में एवं इन सब पर्वतों में आसुर, गंधर्व, किन्नर किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार, अपसरा, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड तथा विनायक रूप देव योनियों के समूह बसते हैं तथा अन्य द्वीप-समूह में पुण्यात्मा देवता एवं मनुष्यगण निवास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यान भूमि है, वहां मिश्रवन, नन्दन वन, चैत्ररथ और सुमानस, ये चार उद्यान सुधर्मा नामक देव सभा सुदर्शन पुर तथा बैजयन्त नामक महा प्रासाद है। ग्रह, नक्षत्र एवं तारागणों के समूह ध्रू के साथ सम्बन्ध होकर घूमते रहते हैं। महेन्द्र लोक निवासी देवगण छ: प्रकार के हैं। उनमें त्रिदश अग्निष्पात याम्य तुषित अपरिनिर्मित वशवर्ती एवं परिनिर्मित वशवर्त्ती हैं। यह सभी लोग सङ्कल सिद्धि अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न कल्पायु पूज्य काम योगी औपपादिक देहधारी दिव्य अप्सरिसाओं से युक्त परिवार वाले हैं। राजापत्य महर्लोक में देव निकाय पांच प्रकार के हैं- कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ एवं प्रचिताभ, ये सब महाभूत वशी ध्यान मात्र से ही तृप्त रहने वाले सहस्र कल्पायु हैं। जन नामक ब्रह्मा के प्रथम लोक में देव निकाय चार प्रकार के हैं। जिनमें से ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्मकायिक ब्रह्म महाकायिक और अमर हैं। ये लोग भूतेन्द्रिय वशी एवं उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले हैं। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलक में देवनिकाय तीन प्रकार के हैं जैसे आभास्वर महाभास्वर सत्य महाभावस्वर में लोग भूतेन्द्रिय तथा तन्मात्र वशी हैं तथा उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले ध्यानाहारी ऊर्ध्वरिता ऊर्ध्वत्स्व एवं सत्यलोक में ज्ञान की सामर्थ्य रखते हैं। ब्रह्मा के तृतीय सत्य लोक में देवनिकाय चार प्रकार के हैं। उच्चुत, शुद्धनिवास, सत्याभ सङ्ज्ञासंज्ञित ये लोग भवन शून्य स्वप्रतिष्ठ उत्तरोत्तर ऊपर रहने वाले और महाकल्पायु हैं। उनमें अच्चुत गण सवितर्क ध्यान सुख युक्त सत्याभरण आनन्द मात्र ध्यान सुख युक्त और संज्ञासंज्ञित गण अस्मिता मात्र ध्यान सुख युक्त हैं। ये सभी लोग त्रिलोक के अन्तर्गत हैं। ये सभी ब्रह्मलोक विदेह लय गण व प्रकृति लय गण वाले मोक्ष पद में हैं। ये लोग लोक में संलग्न नहीं माने जाते। सूर्यं द्वार में संयम करके योगी को इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान करना चाहिए इसके अतिरिक्त भी इससे ऊँचे से ऊँचे लोकों का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए।

व्यास का पूरा-पूरा अर्थ प्राय: ऊपर लिख दिया गया है। यद्यपि आज कल भूगोल के अनुसार जम्बूद्वीप और सुमेरु पर्वत का जो विस्तार लिखा है, उतना दिखलाई तो नहीं देता और नहीं इक्षुरस आदि के समुद्रों का पूरा-पूरा ज्ञान हो पाता है, किन्तु इसमें कोई शङ्का भी नहीं कि भूतजयी, महाभूत वशी, तन्मात्र वशी, ऊर्ध्वरेतस आदि जिन महायोगियों का जिक्र किया गया है वे लोग अवश्य ही वितर्कानुगत समाधि सुखभागी विचारानुगत समाधि सुखभागी, आनन्दानुगत समाधि सुखभागी एवं अस्मितानुगत समाधि सुखभागी होने से महाकल्पान्त तक देहधारी एवं अजर अमर लोक हैं, भूत संयमी, भूत वंशी एवं तन्मात्र वशी योगी इन सभी को देखने की सामर्थ्य वाला होता है। इसलिए योगाभ्यास के अभ्यास साधक को चाहिए कि वह अभ्यास परायण हो करके सुषुम्ना का साक्षात्कार करके सुषुम्ना द्वार से ही सूर्य में संयम करना सीखे एवं पूर्णरूपेण भुवन-ज्ञान को प्राप्त करें। जो भाव व्यास भाष्य में दिखला दिया गया है, उससे भी अतिरिक्त परमात्मा की अनन्त सृष्टि को एवं ईश्वर के ऐश्वर्य को पूर्णरूपेण देख डाले, जिससे कि वह कभी भी अपने अमरपद से विचलित न हो सके।

सर्वेष्ट प्रद योग-साधना

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(विश्व-विख्यात काशी नगर में अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के योग-प्रवचनों का कार्यक्रम १० जनवरी से १७ जनवरी तक वहां के सुप्रतिष्ठित योग-प्रेमी महानुभावों के आग्रह पर रखा गया था। श्री महाराजजी की प्रवचन-शृंखला के कुछ महत्वपूर्ण अंश 'सर्वेष्ट प्रद योग-साधना' शीर्षक से वहां के प्रख्यात दैनिक 'गाण्डीव' में पत्र के प्रतिनिधि ज्योतिष कला-निधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा द्वारा प्रकाशित कराया गया था— श्री मेहरोत्रा द्वारा प्रस्तुत उसी लेख को 'सिद्धयोग' में हम यहां पाठकों के हितार्थ प्रकाशित कर रहे हैं।)

—सं. सम्पादक

सामान्यतया मनुष्य देवताओं की उपासना के लिए प्रवृत्त इसी हेतु से होते हैं ताकि उनके द्वारा वे शक्ति पा सकें और उनके सांसारिक कार्यों की पूर्ति हो सके। परन्तु देवताओं की शक्ति भी सीमित ही होती है। जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है, तो वे देवत्व से भ्रष्ट हो जाते हैं।

अत: समझदार व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह स्वयं सशक्त होने का पथ अंगीकार करे। योग-साधना का मार्ग स्वयं शक्ति सम्पन्न होने का मार्ग है। योगी अपनी साधना द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से लेकर वृहदातिवृहद् विश्व-पर्यन्त अधिकार कर लेता है।

योग-साधना में मनुष्य को अन्तर्मुख होना पड़ता है। ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। ध्यान के अभ्यास के कई क्रम हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये जो पांचों तत्व हैं, इन पर क्रम-क्रमसे वह अपना ध्यान करता है। पृथ्वी तत्व अर्थात् पहाड़ों, मकानों, मनोरम भू-भागों पर भी वह ध्यान एकाग्र करता है। जल तत्व अर्थात् समुद्र, नदी, नाले और उनकी शक्ति तथा सौन्दर्य को ध्यान में वह देखता है। तेज तत्व अर्थात् अग्नि, बिजली, सूर्य और प्रकाशमान विविध वस्तुओं को भी वह ध्यान का लक्ष्य बनाता है। वायु तत्व अर्थात् स्पर्श सुख प्रदान करने वाली वस्तुयें उसके ध्यान की लक्ष्य होती हैं। आकाश तत्व पर ध्यान जमा कर वह आकाश के अनन्त विस्तार और दैर्ध्य को परखता है और उनसे उठने वाले नादों का श्रवण करता है।

आरम्भ में योगी सम्प्रज्ञात समाधि की साधना करता है। उसके चार भेदों में से तर्कानुगम समाधि का उल्लेख ऊपर किया है। दूसरा भेद है विचारानुगम योग का। इसमें योगी उन्हीं पांचों तत्वों की सूक्ष्म तन्मात्राओं के साक्षात्कार में प्रवृत्त होता है। पृथ्वी तत्व की तन्मात्रा गन्ध है। इस पर ध्यान जमाने से योगी दिव्य गन्ध का अनुभव करने लगता है। वह सोचता है—'गन्धोऽम', मैं गन्ध ही हूँ। इस साधना द्वारा उसका अधिकार गन्धों पर हो जाता है। वह जब जैसी चाहे वैसी गन्ध उत्पन्न कर सकता है और उसे दूसरों के लिए प्रदान कर सकता है।

जल तत्व की तन्मात्रा रस है। इस पर योगी अपना ध्यान जमाता है तो उसे विश्व में परिव्याप्त सभी रसों का साक्षात्कार होता है। उसे दिव्य रसो का अनुभव भी होता है। रसों पर उसका अधिकरा हो जाता है। वह जब चाहे दूसरों को भी दिव्य रसों का आस्वाद करा सकता है।

तेज तत्व की तन्मात्रा है रूप। रूप पर ध्यान जमाने से योगी दिव्य रूपों का दर्शन करता है। उसका शरीर भी दिव्य सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है। किसी भी प्रकार का रूप धारण करने की उसमें सामर्थ्य आ जाती है। सभी रूपों पर वह अधिकार प्राप्त कर लेता है।

वायु तत्व की तन्मात्रा है स्पर्श। स्पर्श पर ध्यान करता हुआ योगी दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है। वह दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। किसी भी वस्तु को अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही वह छू सकता है और संसार के किसी भी भाग में स्थित वस्तु को उठाने, स्पर्श करने में सक्षम हो जाता है।

आकाश तत्व की तन्मात्रा शब्द है। इस पर ध्यान जमाने पर योगी को दिव्य संगीतों व शब्दों के श्रवण का आनन्द मिलता है। वह संसार की हर भाषा और हर शब्द के अर्थ से बुद्ध हो जाता है। दिव्य नाद उसे सुनाई पड़ते हैं। कहा गया है कि नादके समान लय प्रदान करने वाला अन्य कोई साधन नहीं है। अत: वह मनोलय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वह देवताओं से वार्तालाप करता है और उनके शब्दों को— आकाशवाणी- को यथावत् सुनता है।

सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी अवस्था है- आनन्दानुगत समाधि। उपरोक्त साधनों के पश्चात् योगी आनन्दानुगत समाधि के क्षेत्र में प्रविष्ट

होता है। इस साधना में तेज और आनन्द की लहरें जिन्हें साधक पहले अनुभव कर चुका है उसमें ओतप्रोत हो जाती हैं। वह अपने आपको तेजमय और आनन्दमय देखता है और दृढ़ता से अनुभव करने लगता है।

सम्प्रज्ञात समाधि की चतुर्थ अवस्था है- अस्मितानुगत समाधि। अब योगी अनुभव करता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, मैं यह विश्व हूँ, मैं शिव हूँ, मैं विश्व भर में और उसके कण-कण में व्याप्त हूँ और उससे भी कुछ अधिक।

जब योगी साधना के आरम्भ का संकल्प लेकर ध्यान जमाने के लिए प्रयास करता है तो उसे गुरुदेव की ओर से मदद मिलने लगती है। आरम्भ में वह मन को एकाग्र करता है। मन की एकाग्रता ही योग की प्रथम वर्णाक्षरी है। मन को अन्तर्मुख करो, हृदय गुह्य में ध्यान करो। किसी वस्तु पर मन को एकाग्र करने का नाम ही धारणा है। मन में किसी वस्तु के स्वरूप का ध्यान करना धारणा है। धारणा में मन को पकड़कर बांधे रखना और ध्येय वस्तु का सतत् दर्शन करने का अभ्यास पुष्ट हो जाना ही ध्यान कहलाता है। अभ्यास से धीरे-धीरे ध्यान पुष्ट होता है। ध्यान की स्थिति पुष्ट हो जाने पर ध्येय पदार्थ से ध्यान करने वाला अपने आपको अभिन्न अनुभव करने लगता है। उस समय यह भी भूल जाता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, सिर्फ ध्येय लक्ष्य ही शेष रहता है। इसी स्थिति का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।

योग-मार्ग के साधन में शक्तियों का प्रादुर्भाव बड़ी शीघ्रता से होता है। शक्ति पाकर साधक को अहङ्कार से बचना चाहिए। नारद जी के उदाहरण को ध्यान में रखना चाहिए। अभिमान करेगा तो साधक का पतन होगा। अथवा साधक यदि प्राप्त सिद्धि शक्तियों का भोग प्राप्ति में विनियोग करेगा तो भी उसका पतन होगा। विनयी बनकर साधक योग-मार्ग में निरन्तर बढ़ता रह सकता है। विनयी होकर ही वह योग की भूमिका को तरता है। गुरु ही योग-मार्ग में एकमात्र सहायक होते हैं। गुरु तत्व देवताओं की शक्तियों से भी अत्युच्य और उत्कृष्ट है। देवता लोग अपनी-अपनी विशिष्ट शक्ति मात्र से संयुक्त हैं अतएव सीमाबद्ध हैं, परन्तु गुरुदेव अनन्त शक्ति से विभूषित, असीम, अनाहद और सर्वेश्वर हैं और साधक की भलाई के लिए सतत् उपस्थित रहने वाले हैं। देवता लोग योगियों की शक्ति देखकर घबड़ाते हैं, जलते हैं और उन्हें पथभ्रष्ट करने के लिए विविध भोग प्रस्तुत करते हैं ताकि योगी उनकी अपेक्षा उच्चतर शक्तियों का स्वामी न बन सके। विशेषत: उपरोक्त पंच तन्मात्राओं की सिद्धि कर लेने के बाद जब योगी दिव्य लोकों में गमन करता है तो देवताओं द्वारा सत्कार और विविध भोगों के उपहार पाता है। योगी न तो दिव्य भोगों में रुचि ले और न उन्हें त्यागने की अपनी सामर्थ्य के कारण अपने मन में अभिमान आने दे। गुरुदेव में श्रद्धा रखने वाला योगी हर प्रकार के समय-असमय में उनकी मदद पाता हुआ समस्त विघ्न-बाधाओं को तजकर अपनी साधना पूरी करता है। गुरु की सीमा काल की सीमा से परे है। इसीलिए सिक्ख लोग कहते हैं- 'सत श्री अकाल' जो काल से रहित है वही सत्य है। गुरु की शक्ति से ऊँची और कोई भी शक्ति नहीं है। उसे हम राम, कृष्ण, विष्णु या शिव जैसे किसी भी नाम से स्मरण कर सकते हैं। उसी परमशक्ति के भय से सब देवता भी भीत रहकर अपने-अपने काम करते हैं। उनके चरण-कमलों के स्मरण मात्र से चित्त में दिव्य प्रकाश का उदय होता है। संत तुलसीदास जी के शब्दों में-

श्री गुरु पद नख मनिगन जोती।

सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।।

ध्यान में व्याधि, स्त्यान शांति संयम, प्रमाद, आलस्य, अविरति अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व नौ प्रकार के विघ्न होते हैं वे सभी गुरु कृपा मात्र से ही निवृत्त होते हैं। गुरु के समान ही इष्ट भी योगियों का सहायक होता है। जिसका कोई इष्ट है उसका अनिष्ट कभी नहीं होता। वह इष्ट सर्वशक्तिमान परमात्मा ही होना चाहिए।

संप्रज्ञात समाधि की अस्मितानुगत समाधि साथ लेने पर योगी में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। सत्य को धारण करने वाली बुद्धि उसमें उदित होती है और फिर कोई और संस्कार उसका नहीं बनता। उसमें असंख्य चित्त निर्माण करने की शक्ति आ जाती है। अपने हजारों चित्त निर्माण कर अपने प्रधान चित्त के अधीन उन्हें नियन्त्रित रखकर वह एक साथ हजारों कार्य कर सकता है। वह किसी को उपदेश देता है, किसी की रक्षा करता है, एक ही समय बहुत से स्थानों पर रहता हुआ साधकों की मदद भी करता है। उसमें दिव्य-निर्माण की शक्तियाँ आ जाती हैं जो कुछ वह चाहे तत्काल निर्मित कर देता है। उसमें निर्वाणोन्मुख वृत्ति उत्पन्न होती है जो समस्त संस्कारों को जलाने के बाद अपने आपको भी जलाकर भस्म कर देती है। इस प्रकार योगी परम ज्योति में लीन हो जाता है। यही योगियों का मार्ग है जो गुरु कृपा से प्रशस्त निर्देश प्राप्त कर पार किया जाता है। मानव-जीवन के कर्णधार गुरुदेव हैं, मानवदेह सुन्दर नौका है, भगवान स्वयं सुन्दर अनुकूल वायु के रूप में मददगार हैं। इतना सुयोग पाने पर भी यदि मनुष्य संसार-सागर को पार न करे तो वह आत्मघातीवत् दोष का भागी होता है। योग-विद्या ही सर्वद्रष्टा व सर्वशक्तिमान बनाती है। प्रयास तत्काल आरम्भ करो और योग के क्षेत्र में— अन्तर्जगत में प्रवेश करो। जो लोग इसके लिए प्रयास करेंगे उन्हें भगवान मदद देंगे।

योगी को विवेकज ज्ञान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगी की संयम शक्ति का वर्णन करते हुए महर्षि भगवान पतंजलिदेव ने, उसका कहाँ तक अधिकार है, यह बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

परमाणु परम महत्त्वान्तोऽय वशीकारः

अर्थात् इस एकाग्र चित्त वाले योगी का परमाणु से लेकर परम महान् आकाशादि पर्य्यन्त पूर्ण अधिकार है। वह अपने चित्त को जहाँ भी चाहे लगा सकता है, अर्थात् योगी अपने संयमित चित्त को जहाँ भी चाहेगा लगा सकता है एवं उस वस्तु की यथार्थता को भी जान सकता है। योगी का संयम बल पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ होता है अतः उसका अधिकार है कि वह जिस भी वस्तु तत्व को अनुभूत करना चाहे अवश्य ही कर सकता है। इसी सूत्र पर श्री व्यासदेव के भाष्य की पंक्तियाँ भी पठनीय हैं :-

सूक्ष्मे निवशमानस्य परमाणवन्तं स्थिति पदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परम महत्त्वान्तं स्थिति पदं चित्तस्य। एवं तामुभयी कोटिमनुधावतोयोस्याप्रतिघातःस परो वशीकारः। तद्धशीकारात् परिपूर्ण योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापिक्षत इति।

अर्थात्— जब योगी का चित्त संयम की पराकाष्ठा को पहुँचता है तो सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु पर्य्यन्त एवं महान से महान आकाशादि पर्य्यन्त स्थिति को पा जाता है- सूक्ष्म में चित्त लगाना चाहे तो परमाणु पर्य्यन्त सूक्ष्म तत्वों का वह अनुभव करता है और यदि परममहान् आकाशादि तत्वों में मूल प्रकृति पर्य्यन्त संयम करता है तो दोनों प्रकार के संयमों से योगी का चित्त परम वशीकार को प्राप्त हो जाता है कि उसके पुनः पुनः अभ्यास कृत संयम की आवश्यकता ही नहीं रहती। जब जहाँ जिस भी सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं महान से महान तत्त्व में संयम करना चाहे तो तत्क्षण संकल्पमात्र से ही कर सकता है अर्थात् उसको अपने चित्त पर इतना अधिकार हो जाता है कि मन में विचार आने मात्र से उसका चित्त संयमित हो जाया करता है। यह तो संयमित चित्त का वर्णन हुआ। इस प्रकार का अधिकार पा जाने के बाद योगी जब अपने संयमित चित्त को विवेकज ज्ञान प्राप्त करने की ओर लगाता है तब वह परमाणु व क्षण-क्रम आदि में संयम करने से किसी प्रकार विवेकज ज्ञान को प्राप्त करता है उसका प्रकार लिखते हैं। सूत्र है-

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्

अर्थात् योगी को क्षण व उसके क्रमों में संयम करने से विवेकज ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस सूत्र पर व्यास-भाष्य भी इस प्रकार है-

यथापकर्ष पर्य्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः। तत्प्रवाहाविच्छेदन्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयीर्नास्ति वस्तुसमाहारा इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवीरसम्भवात् पूर्व स्मादुत्तरभाविनो यदानन्तर्य क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्धर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति ततृसमाहारः। ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः। परिणाममनुभवति तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति।।

अर्थात्- जैसे द्रव्य घटते-घटते परमाणुत्व को प्राप्त हो जाता है वैसे ही काल घटते-घटते क्षणावधि वाला हो जाता है- अर्थात् द्रव्य का सूक्ष्म भाग परमाणु है और काल का सूक्ष्म भाग क्षण है। इस बात को यूं समझ लेना चाहिये कि जैसे प्रकृति का सूक्ष्म अंश परमाणु पूर्वदेश को त्याग कर उत्तर देश को प्राप्त हो जाता है। उतने काल का वह भाग क्षण है अर्थात् छोटे से छोटे समय के भाग को क्षण कहते हैं। उन क्षणों का जो प्रवाह चल रहा है उस का न टूटना ही क्रम कहलाता है क्षण व उसका क्रम एक वस्तु नहीं है इसी कारण केवल बुद्धि के समाहार मात्र से दिन व रात आदि का बटवारा और भेद हैं। यद्यपि यह बिलकुल ठीक है कि काल वस्तु शून्य है किन्तु बुद्धि के द्वारा इसका निर्माण किया गया है अतः वस्तुरूप से भासित होता है- क्षण भी वस्तु शून्य है किन्तु क्रम के आश्रित है ज्यों-ज्यों क्रम बदलता है त्यों-त्यों क्षण बदलता रहता है अर्थात् एक क्षण के बाद दूसरे क्षणका आगमन ही क्रम कहलाता है। इसी को काल के जानने वाले योगियों ने काल कहा है। दो क्षण एक समय नहीं होते प्रत्युत्त पूर्वोत्तर क्रम से होते हैं इनका एक साथ होना असम्भव है। पूर्वोत्तर क्षणों में भेद रहता है- भूत भावी क्षण इस वर्तमान क्षण के गुजर जाने के बाद आते-जाते हैं। इस एक वर्तमान क्षण के परिणाम स्वरूप ही सब लोक हैं। अतः क्षण व उसके क्रम में जब योगी अपनी शक्ति से संयम करता है तो स्वतः ही विवेकज ज्ञान पैदा हो जाया करता है जिससे योगी वस्तु के यथावत् स्वरूप को जान लेता है क्षण व उसके क्रमों में संयम करना यह योगी के स्फुट प्रज्ञा लोक का ही एक परिणाम है। कोई भी अभ्यासी योगी विना परम वशीकार के इतने सूक्ष्म संयम को नहीं पहुँच सकता। अतः अभ्यासी को अपना संयम बल बढ़ाते रहना चाहिये जिससे कि उसकी ताकत सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु में भी संयम कर सके। क्षण व उसका क्रम दोनों अति सूक्ष्म हैं जिस समय योगी इनके सूक्ष्मता-क्रमों में संयम करता है तो उसको विवेकज ज्ञान हो जाता है।

विवेकज ज्ञान की पराकाष्ठा

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने **'सिद्धयोग'** के ग्यारहवें वर्ष के प्रथम अङ्क में योगी को विवेकज ज्ञान नामक लेख में हमने भली प्रकार यह समझाने की चेष्टा की है कि विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार से हुआ करती है। साथ ही लेख में यह समझाया गया है कि क्षण और उसके क्रम में संयम करने से योगी को विवेकज ज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

किन्तु इसके अतिरिक्त विवेक ज्ञान में कई एक और भी व्यवधान हैं जो विवेकज ज्ञान में एक प्रकार के अन्तराय ही हैं यह विवेकज ज्ञान को पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचने देते। उन सबकी निराकृति के लिए अन्तर्द्रष्टा योगी जान लेता है कि यथावत् वस्तु क्या है? जाति, लक्षण, देश आदि की एकता में किस प्रकार योगी अपने संयम के बल से यथार्थता को जान पाता है। इन सब बातों का उल्लेख भगवान पतंजलि जी ने निम्नाङ्कित सूत्र में किया है—

जाति लक्षण देशैरन्यताऽनवच्छेदा त्तुल्ययोस्तुतः प्रतिपत्तिः।

— विभूति पाद ५३

व्यास-भाष्य—

तुल्ययोर्देश लक्षणसारूप्ये जाति-भेदोऽन्यताया हेतुः गौरियं वडवेयमिति, तुल्य देशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्त्वकरं, कालाक्षी गौः स्वस्तिमयी गौरिति, द्वयोरामलकयोर्जातिक्षण सारूप्याद् देश-भेदोऽन्यत्वकर इदम्पूर्वमिदंमुत्तरमिति, यदा तु पूर्वमामलकमन्य-व्यग्रस्यज्ञातुरुत्तर देश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमिम-तदुत्तरमेतदिति अविभागानुपपत्ति, असीद-ग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिः विवेकज ज्ञानात् इति कथम्—पूर्वामलक सहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षण देशाद्भिन्नः, ते चामलके स्वदेशक्षणा-नुभवभिन्ने, अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति, एतेन द्रष्टान्ते न परमाणोग्तुल्य जातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणु-देशसहक्षण साक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तछेशानुप-पतौउत्तरस्य तद्देशानुभवोभिन्नः, सहक्षण भेदान्तयोगीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति, अपरे तु वर्णयन्ति-येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति, तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्त्तिव्यवधि जाति भेदश्चान्यत्वेहेतुः भेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति, अत उक्तं मूर्त्तिव्यवधि जाति, भेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्, इति वार्षगण्यः।

अर्थात् जहां पर देश, जाति और लक्षण समान होते हैं वहां पर जाति भेद अन्यता अर्थात् भिन्नता को जानने का कारण होता है। जैसे-यह गौ है और यह घोड़ी है, गौ और घोड़ी भिन्न-भिन्न जातियों के दो प्राणी हैं, इनका जाति-भेद इनकी भिन्नता को बतलाया है। किन्तु ऐसा होने पर भी जहां पर देश और जाति समान हों वहां पर लक्षणों पर देश और जाति समान हों वहां पर लक्षणों से भेद को जाना जाता है। जैसे- वह गौ जिसके गले में कुछ चर्म भाग लटक गया है, चर्म भाग का इस प्रकार लटक जाना अन्य गौओं की उसकी भिन्नता का कारण है। इसी प्रकार से देश भेद भी भिन्नता को बतलाने का कारण हुआ करता है। जैसे एक स्थान पर दो आंवले रखे हों उनका रंग-रूप सब समान है किन्तु लाने वाला यह जानता है कि मैं इस आंवले को पूर्व देश से लाया हूँ और दूसरे आंवले को उत्तर देश से लाया हूँ पूर्व और उत्तर का देश दोनों आंवलों की भिन्नता को बतलाने वाला है। किन्तु लाने वाला व्यक्ति भूल जाय और कोई पूर्व वाले आंवले को उत्तर वाले आंवले की जगह और उत्तर वाले आँवले को पूर्व वाले आँवले की जगह बदल दे तो उस समय सर्व साधारण इस बात को नहीं जान सकते कि कौनसा आँवला पूर्व देश का है और कौनसा आंवला उत्तर देश का है? ऐसी अवस्था में योगी का विवेकज ज्ञान ही उनकी अवस्था में योगी का विवेकज ज्ञान ही उनकी यथार्थता को जानने का कारण बनेगा, क्योंकि उनकी उत्पत्ति काल के क्षण और क्रम जो हैं वह भिन्न-भिन्न हैं। उनके क्षणों और क्रमों के अन्दर संयम करने से योगी यह भली प्रकार जान जायेगा कि यह पूर्व दिशा का आंवला है और यह उत्तर दिशा का आंवला है, क्योंकि वह दोनों आंवले क्षण-क्रम और परमाणुओं के भेद से भिन्न-भिन्न तो हैं हीं। इस तत्त्व को योगी की सूक्ष्म बुद्धि ही निर्णय कर सकती है। क्योंकि योगी के लिए भगवान पतञ्जलिदेव यह पहले ही कह चुके हैं कि **'परमाणु परम महत्वान्तस्य वशीकारः।'**

अर्थात् योगी का संयम बल इतना बढ़ जाता है कि वह परमाणु से लेकर के मूल प्रकृति-पर्यन्त इसका अधिकार हो जाया करता है। इसी प्रकार विवेकज ज्ञान इतनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है कि योगी को संयम करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, प्रत्युत उसका मन संकल्प मात्र से अपने आप संयमित होने लगता है एवं विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति हो जाया करती है। इसी ज्ञान को फिर तारक ज्ञान कहने लग जाया करते हैं। भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने योग-दर्शन में निम्नांकित सूत्र में स्पष्ट समझाया है—

तारकं सर्व विषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकज ज्ञानम्।

(विभूतिपाद ५४)

पढ़िये इस सूत्र पर व्यास-भाष्य—

तारकमिति-स्वप्रतिभीत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः सर्व-विषयं=नास्य किञ्जिदविषयी भूतमित्यर्थः, सर्वथा विषयं=-अतीतानागत प्रत्युपन्नं सर्वं सर्वथा जानातीत्यर्थः, अक्र-ममिति=एकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्, अस्यैवांशी योगप्रदीपः, मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति।

अर्थात् तारक ज्ञान उसको कहते हैं जिसमें योगी को किसी भी विषय को संयम का लक्ष्य नहीं बनाना पड़ता, उसका ज्ञान संयमित सा ही रहता है, वह ज्ञान इस प्रकार का हुआ करता है जिससे भूत-भविष्य का कोई भी लक्ष्य उसका अविषय नहीं रहता। एक प्रकार से पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ विवेकज ज्ञान ही तारक ज्ञान में बदल जाया करता है। तारक ज्ञान के उदय हो जाने पर योगी सभी कुछ जानने वाला बन जाया करता है। यह स्थिति इस प्रकार की होती है कि योगी के सामने किसी ने कोई विषय उपस्थित किया और सुनते ही उसने जान लिया। ऐसी स्थिति उपलब्ध होने पर योगी का लौकिकीय भाषा में अन्तर्यामी, जानीजान, घट-घटवासी आदि शब्दों का प्रयोग उसके लिए करने लग जाया करते हैं। यह स्थिति उपलब्ध हो जाने के बाद योगी का सत्व उत्तरोत्तर निर्मल हो जाया करता है और पुरुष अपने आपको केवली भाव में देखने लगता है।

सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्य कैवल्यमिति

(विभूतिपाद ५५)

व्यास भाष्य—

यदा निर्द्धूतरजस्तमोमलं बुद्धि सत्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्यय मात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धि साम्यरूप्यमिवापन्नं भवति, तदा पुरुष स्योपचरित भोगाभावः शुद्धिः, एतस्याम वस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्यवा, विवेकज ज्ञान भागिन इतरस्य वा, न हि दग्धक्लेश बीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति, सत्वशुद्धि द्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्य्य च ज्ञानञ्चोपक्रान्तम्, परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवतते, तस्मिन्नि-वृतेन सन्त्युत्तरे क्लेशाः क्लेशाभावात्कर्म विपाकाभावः, चरिता-धिकाराश्चैतस्याम वस्थापां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनो पतिष्ठन्ते, तत्पुरुषस्य कैवल्यम्, तदापुरुषः स्वरूपमात्र-ज्योतिरमलः केवली भवति।

जब योगी के रज और तम के मल शान्त हो करके मुद्धि सत्व बिल्कुल निर्मल हो जाता है, क्लेशबीज दग्ध हो जाते हैं, अन्यताप्रत्ययतात्राधिकार भाषित होने लगता है। दग्ध क्लेशबीज होने पर गुणाधिकार समाप्त हो जाते हैं। तभी प्रकृति और पुरुष का शूद्धिसाम्य उपस्थित होता है। क्लेश-बीज के दग्ध हो जाने पर कर्म विपाक का अभाव हो जाता है, जन्म और मरण का चक्कर छूट जाया करता है। पुरुष अपने आपको बिल्कुल शुद्ध स्वरूप में देखने लगता है, गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है, इसी का नाम केवली भाव है। विवेकज ज्ञान की पराकाष्ठा हो जाने पर तारक ज्ञान का उदय और प्रकृति पुरुष का शुद्धि साम्य यह मिर्मल फल मिलते हैं, जिससे योगी अपने आपको कृतार्थ बना लेता है।

शुद्धि साम्य एवं कैवल्य

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने **'सिद्धयोग'** के ग्यारहवें वर्ष के अङ्क २ में विवेकज ज्ञान की पराकाष्ठा नामक लेख में यह भली प्रकार समझाने का प्रयत्न किया था कि तारक ज्ञान के उदय हो जाने के बाद योगी का संयम उस पराकाष्ठा को पहुँच जाता है जहां कि उसके लिए कोई भी सूक्ष्म व्यवहृत एवं विप्रकृष्ट ज्ञान संयम का अविषय नहीं रहता। अर्थात् योगी यथार्थ ज्ञाता हो जाया करता है। इसी ज्ञान के उदय होने पर योगी के लिए यह उक्ति चरितार्थ होती है।

भिद्यते हृदय ग्रन्थि,
छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि,
तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

अर्थात् उस परावर नित्य चेतन के देख लेने के बाद हृदय–ग्रन्थि का विभेदन हो जाता है, सब संशय विनष्ट हो जाते हैं एवं कर्मबन्धन क्षय हो जाया करते हैं। योगी अपने आपको अकुतोभय देखने लगता है। अब उस पर किसी प्रकार का बन्धन लागू नहीं रहता। ऐसी स्थिति में योगी अपने–आपको गुण–धर्मों से परे देखने लगता है। अपने आपको शुद्ध अमल ज्योति आत्मस्वरूप से देखता है। अभी तक उस पर जो गुण प्रभाव था, जिस प्रभाव के कारण योगी के मन में अनेक प्रकार से गुण वर्तमान हो जाया करते थे अब उसके मन पर इन सभी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आनन्दकन्द अखिलात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में **'काम क्रोधोद्भव उद्वेग'** को सहने करने वाले व्यक्ति के लिए **'स युक्तः स सुखी नरः''** इन शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु तारक ज्ञान के उदय हो जान के बाद योगी गुण–धर्मों से ऊपर उठ जाता है और वह यह समझने लगता है कि यह सब गुणों के विकार हैं। मैं इन सबसे अलहदा शुद्ध अमल ज्योति आत्मा है। ऐसी स्थिति आ जाने पर ही योगी को शुद्धि साम्यवस्थित हो जाता है, जिसके लिए हमने अपने पिछले लेख में शुद्ध साम्य का निम्नाङ्कित पंक्तियों में जिक्र किया था:

'सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति'

इस सूत्र पर व्यास भाष्य पढ़िये—

यदा निर्द्धूत रजस्तमोमलं बुद्धि सत्वं पुरुषस्यान्यता प्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धि सारूप्यमिवापन्नं भवति। तदा पुरुषस्यो पचरितभोगाभावः शुद्धिः, एतस्यामव स्थायाम् कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकज ज्ञानभागिन इतरस्य वा न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षाकाचिदस्ति, सत्वशुद्धि द्वारेणैतत्समाधि जमैश्वर्य्यं ज्ञानं चापक्रान्तम्, परमार्थं तस्तु ज्ञानाद्दर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवत्तेन श्यन्त्युत्तरे क्लेशः, क्लेशाभावात् कर्मविषाका–भावः चरिताधिकाराश्चैतस्या मवस्यायाम् गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्य त्वेनोपतिष्ठन्तं, तत्पुरुषस्य कैवल्य, तदा पुरुषस्य स्वरूपमात्र ज्योतिमलः केवली भवति।

अर्थात् जब योगी की बुद्धि बुद्धिगम होने वाले रज और तम भावों को अपनी समाधि के बल से बिल्कुल–बिल्कुल नष्ट कर डालती है, उस समय आत्मा अपने आपको अमल–ज्योति की तरह बिल्कुल शुद्ध गुणाधिकार शून्य देखता है। तब वह प्रकृति से पैदा होने वाले जो भी गुणात्मक भोग थे जिनका अभी तक आत्मा पर प्रभाव पड़ता रहा था, वह अब इस पर बिल्कुल नहीं पड़ता। योग–दर्शन के विभूतिपाद में जिन विभूतियों का वर्णन किया गया है उनकी आवश्यकता अभी तक अनुभव करता था। अब इसके मन से वह वासना सुखानुभूति ज्ञान भी खत्म हो जाता है, क्योंकि अब यह योगी अपने आपको गुणा–धिकार से परे निर्मल ज्योतिस्वरूप हो जाता है। इसी बात का संकेत करते हुए अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में निम्न शब्दों का उल्लेख किया है—

विषया विनिवर्तन्ते,
निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य,
परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

अर्थात् यदि मनुष्य निराहार रहता है तो उसके मन से विषय-वासना प्राय: नष्ट सी हो जाया करती है, किन्तु मन में रस-भावना थोड़ी सी बनी रहती है। किन्तु पर दर्शन के बाद यह भावना भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि अब योगी अपने को गुणाधिकार से परे देखता है। उधर तीनों गुण क्योंकि प्रकृति सम्भव है उनका अधिकार समाप्त हो गया है इसलिए वे भी चेतन सम्बन्ध टूट जाने के कारण अपने आपको गतिहीन जड़वत देखते हैं। जस प्रकार से शरीर से प्राण-कोष के निकल जाने के बाद यह शरीर मुर्दा कहलाया करता है। इसी प्रकार से आत्मा से अधिष्ठतृत, ये तीनों गुण भी आत्मा से वियुक्त हो जाने के बाद कार्यान्वित नहीं होते। इसी का नाम गुणों में गुणों का अवस्थान है। जिस समय से योगी योगाभ्यास करना आरम्भ करता है तब से वह इसी प्रयास में रत रहा करता है कि वह उत्तरोत्तर अपने अभ्यास के बल से गुणधिकार को छोड़ता चला जाय और बाद में केवली-भाव को प्राप्त हो जाय, इसी का नाम प्रकृति और पुरुष का शुद्धि साम्य है। यही योग दर्शनकार भगवान पतंजलिदेव जी का अभीष्ट साधन है, जिसके लिए वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत आदि-आदि सम्प्रज्ञात की भूमिकाओं को जय करता हुआ योगी निर्वाणोन्मुखी वृत्ति का लाभ करके कैवल्य प्राप्त करता है, इसी का नाम प्रकृति-पुरुष का शुद्धि साम्य है। इसको प्राप्त करके ही योगी सब प्रकार के विकारों से परे हो जाता है। ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद योगी को काम, क्रोधादि से किसी भी प्रकार के विकार विचलित नहीं करते। इसको कोई कुछ भी कहे वह अपने स्वरूप से किसी भी प्रकार से विचलित नहीं होता। श्री भर्तृहरि जी महाराज ने अपनी वैराग्य-शतक के एक श्लोक में इसका बड़े हीं स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

चाण्डालं किमयं द्विजाति-

रथवा शूद्रोऽथकिंतापस: ?

किंवा तत्व निवेश पेशलमति

योगीश्वर: कोऽपि किम् ?

इत्युत्पन्न विकल्प जल्प मुखरै:,

सभाष्यमाणा जनै:-

र्न क्रुद्धा: पथि नैवतुष्ट मनसो,

यान्ति स्वयं यागिन:।।

अर्थात् बहुत से जन-समुदाय में खड़े हुए एक सन्त को कोई कहता है कि यह चाण्डाल है, कोई कहता है कि ये कोई द्विजाति ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य आदि में से है, कोई कहता है कि यह शूद्र है या कोई तपस्वी है अथवा तत्व की छान-बीन में लगा हुआ कोई अथवा तत्व की छान-बीन में लगा हुआ कोई योगेश्वर है। इस प्रकार अनेक प्रकार की बाते वह योगी सुनता है। किन्तु न किसी पर कुपित होता है और न ही प्रसन्न होता है। वह अपनी स्वाभाविक गति से चला जाता है। यह है योगी की त्रिगुणातीत अवस्था एवं शुद्धि साम्य, जिसको पाकर साधक कृतार्थ हुआ करता है।

साधना में अहिंसा और सत्य का महत्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह यह पांच साधनायें यम कहलाती हैं, इनमें यम नियमों की सब साधनाओं की आधारभूत साधना अहिंसा और सत्य हैं। इनसे सम्बन्धित सूत्रों का अर्थ करते हुए भगवान व्यासदेव ने अहिंसा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है। अहिंसा—

तत्राहिंसा— सर्वथा सर्वथा सर्वभूतानामनविद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतय। तत्प्रपतिपादनाथ प्रति-पाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणयैवापादीयन्ते तथा चोक्तं— 'स खल्वयं ब्राह्मणों यथा यथा व्रतानि वहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निर्वतमानस्तायेवावदातरूपाम् अहिंसा करोति।

अर्थात् अहिंसा के अतिरिक्त शेष यम-नियम अहिंसा की पुष्टि के लिए ही हैं। उदाहरणार्थ हम सत्य बोलते हैं, सत्य के अर्थ को भी स्पष्ट करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं—

सत्यं-यथाऽर्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्नश्चेति, परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति बन्ध्या वा भवेदिति एषा सवभूतोपकाराय प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभि धीयमाना भूतोपघातपरेव स्यान्नसत्यं भवेत्, पायमेव भवेत् तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टन्तम प्राप्नुयात।

अर्थात् यथार्थ वाणी जैसी देखी सुनी व अनुमान की हुई, दूसरे को अपना अर्थ समझाने के लिए न वंचना से युक्त, न भ्रान्तियुक्त व न अस्पष्टार्थ कही हुई, जो प्राणिमात्र के परोपकार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य प्रयुक्त होती है वही वाणी सत्य कहलाती हैं। इसी के द्वारा प्राणिमात्र का भला होता है। इसलिए सत्यवादन अहिंसा की निर्मलता के लिए है और इसी प्रकार अस्तेय आदि जो हैं वे भी अहिंसा की निर्मलता के लिए हैं। अन्य सब प्रकार के व्रताचरण भी अहिंसा धर्म की ही परिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा किसी जाति, किसी देश और किसी काल व समय से युक्त न हो और सार्वभौमिक अहिंसा हो तो महाव्रत कहलाती है। भगवान पतञ्जलिदेव के शब्दों में :—

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः

सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगसूत्र २/३/१)

जाति देश आदि का अभिप्राय—

जैसे मछली मारने वाले केवल मछली ही मारते हैं। उनकी हिंसा मछली जाति में है। दूसरी सब जगह वे अहिंसक हैं। देश में तीर्थ आदिकों में जो बलिदान देने की प्रथा है वह स्थान विशेष को हिंसा है। इसलिए देश विशेष की हिंसा और इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी खास पुण्य-काल में हिंसा करते हैं, जैसे पुण्य-विषय किसी खास समय पर आने वाली अष्टमी, चतुर्दशी आदि में बलि का विधान होता है वह काल विशेष हिंसा या कालगता हिंसा कहलाती है इसी प्रकार जो किसी खास विशेष समय के लिए बड़े-बड़े किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए हिंसा की जाती है, वह समय की हिंसा कहलाती है। इन्हीं सभी प्रकार की हिंसाओं से निकलकर प्राणिमात्र में, सब देशों में, सब काल में और बड़े से बड़े किसी महान कार्य के लिए भी जो हिंसक नहीं वह अहिंसा रूप महाव्रत को धारण करने वाला बन जाता है।

हिंसा की हुई, कराई हुई, लाभ से, क्रोध से और मोह से व मृदु, मध्य व अधिमात्रादि भेदों में सैकड़ों भेदों की है। पूर्व अहिंसाव्रती वही कहला सकता है जो लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर किसी भी प्रकार की हिंसा न करे न कराये न अनुमोदन करें।

भगवान पतंजलि जी लिखते हैं :—

वितर्क बांधने प्रतिपक्षभावनम्

(योगसूत्र २/३३)

अर्थात् जब-जब साधक के सामने हिंसा व्रत आये तब-तब उसको प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। मनुष्य लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर सोचता है कि मैं अपने शत्रु को मार डालूँगा और झूठ बोलना पड़े तो झूठ भी अवश्य बोलूँगा, इसके धन को चुरा लूंगा। इसकी स्त्री से बलात्कार करूंगा और उसके स्थान आदि को जबर्दस्ती छीनकर उसका मालिक हो जाऊंगा, इत्यादि भाव जिस समय साधक के मन में प्रबलता

धारण करें तो साधक को इसके अतिरिक्त विपरीत भावनाओं को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए संसाराग्नि के घोर अंगारों में पिसते हुए मैंने प्राणिमात्र को अभय देने वाला योग अपनाया है। अब मैं पुन: इस अग्नि में नहीं पड़ूँला। इस प्रकार की भावनाओं को दृढ़ करता हुआ मनुष्य कृता, कार्यता अनुमोदिता आदि तीनों प्रकार की हिंसाओं से बच करके पूर्ण अहिंसाव्रत को प्राप्त करता है। यह प्राणिमात्र के प्रति बैर छोड़ देता है और इसके प्रति भी प्राणिमात्र बैर छोड़ देते हैं— भगवान् पतंजलिजी- अहिंसा की पूर्ण पराकाष्ठा का फल बतलाते हैं—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधो वैरत्याग:

(योगसूत्र २/३५)

अर्थात् अहिंसा को पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणिमात्र बैर छोड़ देते हैं, इसी कारण से इस अहिंसा के प्रतीक हमारे ऋषि मुनियों के आश्रमों में शेर, चीता और साधारण अन्य मृगादिकों का समान भाव से रहना सुनते हैं।

सत्य—

दूसरा यम सत्य है। अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयुक्त की हुई वह वाणी जिसमें किसी को धोखा न दिया जाय सत्य कहलाती है।

सत्य के लिए उपनिषदों में बड़े -बड़े शब्द मिलते हैं।

सत्यं ज्ञानमनंतम् ब्रह्म

(तैत्रि. २/१/१)

सत्य प्रभु का रूप है तथा वाणी का तप है।

सत्यने लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,

सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येणा।

नित्यम् अंत: शरीरे ज्योतिर्मयोहि,

शुभ्रो य पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:।।

सत्यमेव जयते नानृतम्।

सत्येत पन्था: विततो देवयान।

अर्थात् सत्य, ज्ञान, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही अन्त: शरीर में शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा को देखता है, जिसे दोषों को क्षीण कर यति लोग भी कठिनाई से देख पाते हैं। सदैव सत्य की ही जय होती है, देवों का मार्ग सत्य से विस्तृत है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने श्री मद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में सत् शब्द ब्रह्म का नाम बतलाया है। यथा—

ॐ तत्सदिति निर्दिशो,

ब्रह्मणास्त्रिविधस्मृत:।

ब्राह्मणास्तेन वेदांश्च,

यज्ञांश्च विहिता: पुरा।।

ॐ तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही नाम है व इसीके द्वारा वेद यज्ञ व ब्राह्मण का विधान हुआ। इसी प्रकार का संकेत उपनिषदों में स्थान-स्थान पर भरा है।

श्री विष्णु सहस्रनाम में भगवान को **''सत्य: सत्यपराक्रम:''** कहकर स्तुति की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण के दशम् स्कन्ध के दूसरे अध्याय में गर्भ-स्तुति के वर्णन में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को परम सत्य व सत्यात्मक शब्दों से सम्बोधित करके स्तुति की है। यथा—

सत्य व्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,

सत्यस्योनिं निहितं च सत्ये।

सत्यंस्यसत्यामृतं सत्यंनेत्रं,

सत्यात्मकं त्वां शरणप्रपन्न:।।

अर्थात् हे प्रभो! आप सत्यव्रत, सत्यपरायज व तीनों कालों में परम सत्य हैं। आप ही आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है, क्योंकि आप सत्यात्मक हैं।

उन सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दघन प्रभु का स्वरूप सत्य है। वे स्वयं सत्य हैं, सत्य स्वयं परब्रह्म है। सत्य ही जय का मुख्य साधन है। यथा—

सत्यमेव जयते नानृतं,

सत्येन पंथा बिततो देवयान:।

ये ना क्रमन्त्यृषयोह्याप्तकामा:,

यत्रतत्सत्यस्य परमं निधानम्।।

(मुण्डकोपनिषद् ३/१/६)

अर्थात् सदा सर्वदा सत्य की ही जय होती है। इस सत्य का अवलम्ब लेकर ऋषि लोग आप्तकाम हो गये व उस सत्य के द्वारा ही परम प्रभु को सरलता से प्राप्त कर लिया। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के वनवास हो जाने के बाद उन्हें लौटाने के विचार से गये हुए वसिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों के प्रति सत्य की महिमा को हृदय में धारण करते हुए श्री रामचन्द्र जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

सत्य मेवानृशसं च,

राजवृत्तं सनातनम्।

तस्मात्ससात्मकं राज्यं,

सत्योलोके प्रतिष्ठित:।।

ऋषयश्चैव देवाश्च,

सत्यमेवहि मेनिरे।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन्

परमंगच्छति चाव्ययम्।।

उद्विजन्ते यथा,

सर्वं न्निरादनृत वादिनः।

धर्मसत्यं परो लोके,

मूलं सर्वस्य चोच्यते।।

सत्यमेवेश्वरो लोके,

सत्ये धर्मः सदाश्रितः।

सत्य मूलानि सर्वाणि,

सत्यान्नास्ति परं पदम्।।

दत्तमिष्टं हुतं चैव,

तप्तानि च तपांसि च।

वेदाः सत्य प्रतिष्ठा-

नास्तस्मा त्सत्यपरो भवेत्।।

(बाल्मीकि रा. अयोध्याकांड सर्ग १/१०/१४)

अर्थात् सत्य ही सनातन राजवृत्त है। राज्य की व लोक की सत्य ही में प्रतिष्ठा है। ऋषि, मुनि व देवता सभी ने सत्य को माना है, यही सनातन धर्म है। सत्यवादी ही इस लोक में अव्ययपद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार मनुष्य सर्प से डरते हैं उसी प्रकार अनृतवादी से डरना चाहिए, क्योंकि इस संसार में सत्य ही परम तत्व है व सभी शुभकर्मों का मूल है।

इस लोक व परलोक में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदा सत्य के आश्रित है, सर्व विश्व का मूल है। सत्य से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। सत्य ही परम तत्व है। सभी दान, अनुष्ठान, यज्ञ व तप सत्य पर आधारित है। इसी प्रकार चारों वेद सत्य के द्वारा ही प्रतिष्ठा पाने वाले हैं। अतः कल्याण चाहने वाले को सत्यपरायण होना चाहिए। इस प्रकार सत्य की महान महिमा को बतलाकर भगवान श्री रामचन्द्र जी अपने व अपने पिता जी के सत्य वचन के पालन के लिए अयोध्या नहीं लौटे।

ठीक इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने रामचरित-मानस ने स्पष्ट लिखा है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाये,

वेद पुरान विदित मनु गाये।

धर्म न दूसर सत्य समाना,

आगम निगम पुरान बखाना।

नहिं असत्य सम पातक पुञ्जा,

गिरि सम होइ कि कोटिक गुंजा।

इसी प्रकार अन्य सन्तों की वाणियों में भी सत्य की महान महिमा का वर्णन कूट-कूटकर भरा है।

जाके हृदय सांच है, वाके हृदय आप।

अर्थात् जिसके हृदय में सत्य है वहीं प्रभु का भी वास है। ठीक यही भाव महाभारत में व अन्यान्य आर्ष ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

सहस्रों अश्वमेघ यज्ञ की तुलना करें तो सत्य ही उत्कृष्ट है— इसी प्रकार सारे वेदों का पढ़ना, तीर्थ-स्नान सत्य की तुलना में नहीं आ सकते— सत्य के समान कोई धर्म नहीं है व असत्य के समान घोर पातक नहीं है।

महाभारत के शान्ति पर्व के १६२ वें अध्याय में श्री भीष्मपितामह ने बड़े ऊँचे शब्दों में सत्य का व्याख्यान किया और अन्त में यहां तक कह दिया कि :—

नान्तो शब्दों गुणानां च,

वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।

अतः सत्यं प्रशंसन्ति,

विप्रा सपितृदेवता।।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में—

सत्येन सूर्यस्तपति,

सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।

सत्येन मारुतो वान्ति,

सत्ये सर्व प्रतिष्ठितम्।।

सत्येन देवा प्रीयन्ते,

पितरो ब्राह्मणास्तथा।

तस्मादाहु परो धर्मस्त-

स्मात्सत्यन्न लंघयेत्।।

मुनयः सत्यनिरताः,

मुनयः सत्यविक्रमाः।

मुनयः सत्य शपथा-

स्तस्मात्सत्यं विशिष्यते।।

अर्थात् सत्य की महिमा का वर्णन कहाँ तक करें। सब ऋषि, मुनि, देवता स्थान-स्थान पर सत्य की महिमा गाते हैं। सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से वायु बहता है, अग्नि तपता है। सत्य में ही सब प्रतिष्ठित हैं। देव लोग, मुनि, ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं। अत: कभी भी सत्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। सब ऋषि मुनियों का वल सत्य है। इसी प्रकार के भावों से वेद-शास्त्र व पुराण भरे पड़े हैं।

अत: साधक को मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यवादी होना चाहिए। वाणी से शब्द कहे जा सकते हैं। भाव छुपाया जा सकता है। किन्तु यह सब असत्य है, सत्य नहीं। जो किसी सभा में बैठकर सत्य को जानते हुए भी नहीं कहते वे इस प्रकार असत्य ही बोलते हैं। यथा—

ये तु सभ्या सदा,

ज्ञात्वा तूष्णी व्यापान्नते।

यथा प्राप्तं न ब्रुवते,

ते सर्वेऽनृतवादिनः।।

अर्थात् जो लोग सत्य को भी समझते हुए सत्य नहीं कहते हैं वे सब अनृतवादी ही हैं। अत: मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य बोलने वाला ही सत्यवादी कहला सकता है।

सत्य वचन व वाक्सिद्धि

जो मनुष्य पूरी तरह मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य बोलते हैं व अपने संकल्प मात्र को भी असत्य नहीं होने देते, उनकी बुद्धि में ऋतवास कर जाता है। वे लोग जो सोचते हैं वह सत्य है। जो कहते हैं, वह सत्य है— उनकी कोई भी क्रिया असत्य नहीं हो सकती है। योग-दर्शन में भगवान पतंजलि जी आदेश करते हैं।

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्

(साधनपाद सू. ३६)

इस सूत्र पर व्यास-भाष्य भी इस प्रकार है :-

सत्य-प्रतिष्ठ योगी जिसने अपने पूरे जीवन में कभी असत्य नहीं बोला, उसकी वाणी अव्यर्थ हो जाती है। उसको बिना प्रयत्न के वाक् सिद्धि रहती है। उसके मुख से निकला वचन कभी मिथ्या नहीं होता।'

अखिल अण्ड ब्रह्माण्डनायक परम सत्य स्वरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने महाभारत में द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए प्रतिज्ञापूर्वक अपनी वाक्सिद्धि को कहा है—

चलेद्धिहिमाञ्छैलो,

मेदिनी शतधा भवेत्।

द्यौः पततेच्चसनक्षत्रा,

न मे मोघं वचो भवेत्।।

सत्यं ते प्रतिजानामि,

कृष्णेवाद्यो निगृह्यताम्।

हतमित्राच्छिया मुक्ताङ्ग,

चिराद् द्रक्ष्यसपतीन्।।

हे द्रौपदी! हिमालय अपने स्थान से विचलित हो जाय, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जायें और चाहे आकाश नक्षत्रों सहित गिर पड़े, किन्तु मेरी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती। द्रौपदी, आँसू पोंछो। बहुत थोड़े समय में तुम अपने पतियों की शत्रु रहित भूमण्डल पर राज्य-श्री देखोगी। सत्य स्वरूप भगवान ने—

सत्यं ते प्रतिजाने

कहकर उपर्युक्त शब्द द्रौपदी से कहे और हुआ भी वहीं।

हमारा अनुभव है जो लोग मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करते हैं, बहुत थोड़े समय में ही उनकी वाणी में शक्ति आ जाती है व क्रिया-फल होने लगता है। पंजाब जिला करनाल में एक महात्मा एक जगह पर वास करते थे। वे अन्य अपनी सभी प्रकार की साधनाओं को करते हुए भी सत्य-पालन को अपना ध्येय बनाते थे। उनकी यह साधना थी कि मनसा, वाचा, कर्मणा जो भी करते थे वह सत्य ही करते थे और अत्यन्त मृदुभाषी थे। उनकी वर्षों की साधना के फलस्वरूप उनके जीवन में सत्य चमक उठा था। वह जो भी किसी को कह दिया करते थे, सत्यदेव भगवान की कृपा से वह पूरा होता था। उनके मन से किया हुआ कोई भी दृढ़ निश्चय विफल नहीं होता था। योगिराज भगवान पतंजलि जी के अनुसार उनकी वाणी क्रियाफल वाली हो गई थी। वे स्वयं इस बात को मानते थे कि मेरा जीवन सत्यदेव की आराधना से ही पूर्ण निर्भय व अन्य सभी विघ्न बाधाओं से रहित है। सत्य पूर्ण ब्रह्म है और उसकी आराधना स्वयं परब्रह्म की आराधना है व सब प्रकार से ओज और तेज को बढ़ाने वाली है। अत: कल्याण की अभिलाषा वाले व्यक्तियों को भगवान पतंजलि जी के बतलाये हुए दूसरे यम सत्य को अपने जीवन में पूरी तरह अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सत्य ही सब कल्याणों का मूल है।

सिद्धियों के पाँच प्रकार

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री पतंजलि योग दर्शन के विभूति पाद में समाधिजा सिद्धियों का वर्णन किया गया है। ज्यों ज्यों योगी अपने बाह्य विषयानुरागी चित्त को विवक्तसेविता एवं अन्तर्मुखता की ओर ले जाता है, त्यों-त्यों योगी का वह चित्त एकाग्रता के धर्मों को अपनाता चला जाता है एवं समाहितता को प्राप्त कर लेता है। ज्यों-ज्यों योगी के मन में एकाग्रता का उदय हो जाता है, त्यों-त्यों वह योगी अनेक प्रकार की मानस शक्तियों को प्राप्त कर लेता है, यही सब समाधिजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। श्री पातंजल योग-दर्शन के कैवल्य पाद के प्रारम्भिक सूत्र में सिद्धियों के पाँच भेद समझाये गये हैं, जो इस प्रकार से हैं :-

जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः।

अर्थात् सिद्धियां पांच प्रकार से उत्पन्न होती हैं। कुछ सिद्धियां शरीर धारण मात्र से ही जीव को उपलब्ध हो जाती हैं एवं कुछ सिद्धियाँ औषधियों के द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। कुछ सिद्धियाँ मंत्र-जप और स्वाध्याय के बल से प्राप्त हुआ करती हैं और कुछ सिद्धियाँ समाधि और तप से हुआ करती हैं। हम इन सबका स्पष्टीकरण इस लेख के आगे के भाग में खोलकर करेंगे। पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

देहान्तरिता जन्मना सिद्धयः, औषधिभिर-सुरभवनेषु रसायने त्येवमादिः मन्त्रैराकाशगमनाणिमादि लाभः, तपसा संकल्पसिद्धिः कामरूपी यत्रतत्र कामग इत्येवमादि, समाधिजाः सिद्धियों व्याख्याताः।

अर्थात्—देहान्तर कृत-कर्मों के फलस्वरूप जन्म धारण के साथ जो विशेष योग्यतायें प्राप्त होती हैं वे सब सिद्धियाँ जन्मजा कहलाती हैं। उन सिद्धियों को प्राप्त करने में मनुष्य को विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं है। जैसे पक्षियों का आकाशगमन करना, यह सिद्धि पक्षियों की जन्मजात है। उदाहरण के तौर पर जैसे किसी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है और पूर्व कृत-कर्म के विपाकानुसार कोई पक्षी बन जाता है, चील, कबूतर, चिड़िया आदि-आदि तो जन्म ग्रहण करने के साथ वह आकाश में उड़ना स्वाभाविकतः सीख जायेगा। इसी प्रकार से कोई मनुष्य पुण्य की प्रधानतावश देव लोक में जाकर जन्म ग्रहण करता है तो वहां पर देवताओं के शरीरों में होने वाली सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जायेंगी। यह तो सिद्धान्त की चीज है।

जातस्यहिध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म-मृतस्य च

अर्थात् जो जन्मेगा वह अवश्य मरेगा और मर जाने के बाद उसका जन्म भी अवश्य होगा। इसी सिद्धान्त को उपनिषदें भी स्पष्ट करती हैं :-

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते,

शरीरत्वीय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति,

यथाकर्म यथाश्रुतम्।।

अर्थात् प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मानुसार जड़-योनि को प्राप्त होते हैं यानी कर्मानुसार योनि बदलती रहती हैं। इसी सिद्धान्त को वृहदारण्यक उपनिषद् में खोलकर बताया है।

तद्यथा पेशस्करी पेशसो मात्रामुपादायन्यन्नवतरं कल्याणतरं ँ रूषं तनुत एव मेवायमात्मेद ँ ् शरीरं निहत्याऽविद्यांगमयित्वान्यन्नवतरं। कल्याणतर ँ ् रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा देवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानामम्।

अर्थात् जैसे एक स्वर्णकार सोने को तपा-गला करके उसके भिन्न-भिन्न आकृतियों में जेवरात बना करके तैयार कर देता है। वह सोना यह कंगन है, यह अँगूठी है, माला है, यह हार है, आदि-आदि रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार से जीवात्मा अपने शरीर को छोड़ करके स्व-कृत-कर्म विपाकानुसार नये-नये शरीर धारण करता है। एक विद्वान् कर्मकाण्डी का शरीर ब्रह्मज्ञानी का शरीर देव एवं गन्धर्व का शरीर अपने कृत-कर्मानुसार मिलता है। इसलिए जिस-जिस योनि को मनुष्य प्राप्त होता है, वैसी-वैसी शक्तियाँ उसको जन्म के साथ प्राप्त हो जाया करती हैं। संसार में कुछ इस प्रकार के भी प्राणी दिखलाई देते हैं जिनको जन्मसे ही दिव्य दृष्टि प्राप्त है। जन्म से ही गीता, रामायण कण्ठाग्र से कहने लगते हैं। ऐसे लोग भी देहान्तर के अवशेष को लेकर जन्म लिया करते हैं, जिससे वह शक्ति उन्हें जन्म लेने के साथ स्वाभाविक हो जाया करती है। इस विषय में भगवान पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन में बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है।

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्

अर्थात्—

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कार-मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपद मिवानुभवन्तः, स्वसंस्कार-विपाकं तथा जातीयकमतिबाह्यन्ति, तथा प्रकृलियाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीनं कैवल्यपद मिवानुभवन्ति यावन्न-पुनरा-वर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम् इति।

अर्थात् विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को, जिनके स्वरूप का ऊपर व्यास-भाष्य की पंक्तियों में पूरा-पूरा स्पष्टीकरण किया है। उनको जन्म लेने मात्र से ही योग-ज्ञान की प्रतीति हो जाती है। उनका जन्म लेना ही योग-ज्ञान एवं समाधि का कारण बन जाता है। जिस प्रकार से कपिलादिक महर्षियों को जन्म से ही ज्ञानादिक गुण स्वाभाविक थे। इसी का नाम जन्म से होने वाली सिद्धि है। सिद्धि एक शक्ति का नाम है, वह कारण विशेष से मनुष्य के शरीर में पैदा होती है, उसी को जन्म-सिद्धि कहा करते हैं। इसके अतिरिक्त अर्थात् जो सिद्धि औषधियों के बल से प्राप्त हो, उसको औषधिजा सिद्धि कहते हैं। यह प्रत्यक्ष ही देखने में आता है, जैसे किसी मनुष्य का शरीर बहुत ही क्षीण हो जाय तो डॉक्टर लोग ग्लूकोज की बोतल चढ़ाकर नई शक्ति दे देते हैं और वह मनुष्य चलने, टहलने लगता है। वैद्य लोग मकर ध्वज चन्द्रोदय आदि बलप्रद औषधियों का प्रयोग करके रोगी को नया जीवन दे देते हैं। इसी प्रकार से विद्युल्लता संजीवनी आदि औषधियों का वर्णन मिलता है, जिनको सेवन करने मात्र से एकदम दिव्य स्मरण और जीवनी शक्ति मिल जाती है। विद्युल्लता के विषय में अभी कुछ दिन पहले एक महात्मा ने हमारे सामने जिक्र किया था कि दक्षिण प्रान्त में ज्ञान शून्य किसी पण्डित के लड़के को किसी महात्मा ने विद्युल्लता का सेवन कराया। जिसके सेवन करने से उस बच्चे के मस्तिष्क में पूर्णरूपेण ज्ञान तन्तुओं का विकास हो गया। जिनके फलस्वरूप पूर्णरूपेण विद्या को प्राप्त करके पूर्ण विद्वान बन गया, यही औषधिजा: सिद्धि कहलाती है। इसके बाद तीसरी सिद्धि मन्त्रों से होने वाली हैं। इसके विषय में भगवान पतंजलिदेव योग-दर्शन में स्वयं लिखते हैं—

स्वाध्यायदिष्ट देवतासंप्रयोग

व्यास-भाष्य—

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्यं चास्य वर्तन्त इति।

अर्थात् ऋषि, मुनि, देवता लोग स्वाध्याय शील व्यक्ति के सामने आया करते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। यह उनके मंत्र-जप, स्त्रोत पाठ आदि का फल होता है। इसके अतिरिक्त लोक में और भी मंत्र-शक्ति का प्रयोग देखने में आता है और उसका फल भी तत्काल मनुष्य के जीवन पर हुआ करता है। यही सब सिद्धियाँ मंत्र प्रयोग से होने वाली कहलाती हैं। चौथी सिद्धियाँ तप से प्राप्त होती हैं। हमारे शास्त्रों में तपका वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है, किन्तु तप का सीधा-साधा लक्षण— **'द्वन्द्व सहनं तपः'** इसी से परिपूर्ण रहता है अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास के जोड़े को बर्दास्त करना तप कहलाता है। भगवान् पतंजलिदेव ने अपनी लेखनी से स्वयं लिख दिया है—

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि का नाश हो जाने से कायिक और ऐन्द्रिक सिद्धि उपलब्ध हो जाती है। कायिक सिद्धिका अर्थ है शरीर का वज्र के समान दृढ़ हो जाना। ऐन्द्रिक सिद्धि का मतलब है दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि अर्थात् दूर-दूर की चातें देखना एवं दूर-दूर की बातें सुनना यह सब सिद्धियाँ मनुष्य को तपके साथ प्राप्त हो जाया करती हैं। पांचवीं सिद्धि समाधिजा सिद्धि कहलाती है जो योगी को मन की एकाग्रता के साथ-साथ समाधि में प्राप्त हो जाती है। योग-दर्शन का विभूति पाद इन्हीं सब सिद्धियों के प्राप्तिकरण का बिल्कुल स्पष्ट प्रतीक है इसलिए सिद्धि की कामना करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह इन्हीं उपायों को अपने अवम्बन में लायें। केवल मात्र योगी का ही जीवन एक ऐसा जीवन है जो सिद्धि शक्ति का केन्द्र बन करके कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुम् की ताकत वाला बन जाया करता है।

योगी का जात्यन्तर परिणाम

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

जात्यन्तर परिणाम का अर्थ है एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित होना। आम-लोगों के सामने यह प्रश्न सदा सर्वदा बना रहता है कि एक योगी अपने आपको एक जाति से दूसरी जाति में कैसे परिवर्तित कर सकता है? मनुष्य, मनुष्य ही रहेगा, गधा, घोड़ा, खच्चर आदि नहीं बन सकता। यह बात प्रकृति के नियम के प्रतिकूल मालूम पड़ती है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रकृति के खजाने में सभी तत्व सदा सर्वदा परिपूरित रहते हैं। जैसा कि इस की पुष्टि योगयोगश्वर भगवान कृष्ण ने अपनी गीता में की है—

नासतो विद्यते भावो,

ना भावो विद्यते सतः।

उभयोऽपि दृष्ट्वोन्त-

स्त्वनयोस्तत्वद्र्शिभिः।।

अर्थात् जो वस्तु नहीं है वह कहीं से आयेगी नहीं और जो है वह कहीं जायेगी नहीं। केवलमात्र परिणामान्तर होता रहता है। मनुष्य के शरीर में रोज नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं। आज जो परमाणु शरीर में है कल वह वह नहीं रहेंगे। जो कल थे वह आज नहीं है। इस प्रकार से परिणामान्तर नित्य होता रहता है। जिस समय कोई बालक जन्म लेता है उस समय उसकी आकृति बहुत छोटी होती है। शनैः-शनैः वह जैसे-जैसे पौष्टिक आहार पाता रहता है, त्यों-त्यों शरीर बढ़ता रहता है। थोड़े दिन के बाद ऐसा समय आ जाता है कि उसका शरीर पहचाना भी नहीं जा सकता जब वह कैसा था और कहाँ चला गया? केवल मात्र यह नैत्यिक परिणाम का ही फल हुआ करता है। इसी प्रकार से मनुष्य का जात्यन्तर परिणाम भी होता रहता है। सूक्ष्म शरीर में जो परिणाम होता है, उसके पूरे लक्षण स्थूल शरीर में हो जाया करते हैं। नीति शास्त्र का वचन है—

आकारैरगतैर्गत्या,

चेष्टया भाषणेन च,

नेत्र वक्र विकारैश्च,

ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः।।

अर्थात् आकार के इशारों से चलने-फिरने की गति से हरकत और बोलने से भीतर के मन की पहचान होती है। किसी के मन में काम-वासनादि भावों का उद्गम है या क्रोधादि का उद्वेग है, तो उसके मनकी आकृति तदानुरूप बदल जाती है। अर्थात् उसके अन्तःकरण में जो परिणाम उदय होता है, वही उसकी बाह्य आकृति में भी दिखलाई दे जाया करता है। इसी प्रकार से जात्यन्तर परिणाम भी मनुष्य के स्वकृत कर्म विपाकानुसार मनुष्य का होता रहता है। यह हो सकता है कि इस समय मनुष्य है और कालान्तर में इस आयु के भोग लेने के बाद वह अपने अच्छे या बुरे कर्म विपाकानुसार किसी अन्य जाति के अन्दर जन्म ले। उसकी मनुष्य जाति छूटकर किसी पशु-पक्षी आदि की जातियों में वह परिणित हो जाय। यह जात्यन्तर परिणाम आदि महासिद्ध ईश्वर के संकल्पानुसार हुआ। किन्तु योगी का क्या सामर्थ्य हुआ करता है? इसको योगी का क्या सामर्थ्य हुआ करता है? इसको योग-दर्शन के विभूति पाद को पढ़ने वाले साधक जानते ही हैं। योगी की 'कर्तुम कर्तुमन्यथा कर्तुं' की उक्ति सब प्रकार परिपूर्ण होती ही है। वह चाहे तो अपने शरीर को एक जाति से दूसरी जाति में परिणत कर सकता है, क्योंकि प्रकृति पर उसकी पूर्णरूपेण हुकूमत रहती है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण लोक और वेद में सुनने में आते हैं। योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव जात्यन्तर परिणाम के विषय में निर्देश करते हैं।

जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्

व्यास-भाष्य—

पूर्व परिणामापाय उत्तर परिणामोपजनस्तेषाम पूर्वाक्यवानु प्रवेशाद् भवति कायेन्द्रिय प्रकृतयश्च स्यं-स्व विकार मनुर्गृह्नन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तपेक्षमाणा इति।

अर्थात् जात्यन्तर परिणाम में पूर्व जन्म कर्म निमित्त को पाकर इन्द्रियाँ और अवयव प्रवेश कर जाते हैं। एक परिणाम दूसरे परिणाम में परिवर्तित हो जाया करता है। इससे आगे के सूत्र में भगवान पतंजलिदेव जी ने एक जाति से दूसरी जाति में जीवात्मा कैसे परिवर्तित होता है, यह एक सूत्र में स्पष्ट सूचित किया है। वह सूत्र यह है-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरण भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवित्।

धर्मादि प्रकृतियों का निमित्त प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह अवश्य होता है, जहाँ धर्म परिपूरित रहेगा वहाँ अधर्म नहीं होगा। जहाँ सूर्य का प्रकाश होगा वहाँ अन्धकार स्वाभाविक ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार से जात्यन्तर परिणाम में भी जिस प्रकार एक कृषक एक ऊपर के खेत को जल से भरता है और वह खेत परिपूरित हो जाने के बाद यदि उसकी सीमा का भेदन कर दिया जाय तो नीचे के खेतों में वह जल अपने आप ही परिपूरित हो जाया करता है। इसी प्रकार योगी जब अपना जात्यन्तर परिणाम करने लगता है तो उसके अवयव और इन्द्रियां अपने इस स्थिति परिणति को बदलकर दूसरे परिणाम में प्रवेश कर जाता है और उस योगी का जात्यन्तर परिणाम हो जाता है। पढ़िये उपरोक्त सूत्र पर व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ—

न हि धर्मादि निमितं प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति, न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति, कथं तर्हि-वर्णभेदस्तु ततः क्षेत्रि कवद्, यथा क्षेत्रिकः केदारपाम्परणाद् केदारान्तरं विप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनाऽपकर्षति, आवरणं त्वासांभिनत्ति, तस्मिन् भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तर माप्लावयन्ति, तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्तिः तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान् भौकान् वा रसान् धान्य-मूलान्यनुप्रवेशयितुं, किन्नर्हि मद्गवेधुक श्यामाकादी-स्तोपकर्षति, अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनु-प्रविशन्ति, तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणधर्मस्य शुध्द्य-शुध्द्योरत्यन्तविरोधान् न तु प्रकृति प्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति, यत्र नन्दीश्वराद्य उदाहार्याः विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते, ततश्चाशुद्धि परिणाम इति।

अर्थात् जात्यन्तर परिणाम में वर्ण भेद क्षेत्रिक के समान होता है, धर्मादि निमित्त उन देह प्रकृति आदि में प्रवर्तक नहीं होते, क्योंकि कार्य से कारक को प्रेरणा नहीं मिलती फिर किस प्रकार होता है। इसी बात को समझाने के लिए किसान का उदाहरण दिया गया है। इस धर्मादि निमित्त से किसान के समान वर्ण-भेद होता है। जैसे एक किसान जब एक जल भरी क्यारी से दूसरी क्यारी में जल ले जाना चाहता है, तो वह अपने कायदे से अनुसार ऊपर की क्यारी से उससे नीचे की क्यारी में जल को हाथों से नहीं सींचता। प्रत्युत उसके मेंड़ को काट देता है। जिसके फलस्वरूप वह जल उससे आगे की क्यारी में स्वतः परिपूरित हो जाता है। इसी प्रकार से जात्यन्तर परिणाम चाहने वाले योगों के धर्म, देह और प्रकृति के प्रतिबन्धक स्वरूप उस अधर्म को नष्ट कर देता है। जो अधर्म अभी तक योगी के देह, इन्द्रिय और अवयवों को मेंड़ बनकर जात्यन्तर परिणाम से रोके रहता है वह हट जाता है। उसके हट जाने के बाद देह और इन्द्रियों की प्रकृति जात्यन्तर परिणाम के लिए अपने आप विकार को धारण कर लेती है। इस बात को यूँ समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार एक किसान अपने खेत में जल को तो भर देता है, किन्तु उस खेत में उगने वाले पौधे गेहूँ, चने, धान, मूंग आदि अपनी प्रकृति के अनुसार उस जल से रस को स्वयं खींचते हैं। किसान का काम तो इतना ही था कि उसने खेत में जल पहुंचा दिया। किन्तु उनके अन्दर रस भरना किसान की शक्ति से बाहर है। वह शक्ति ईश्वरीय देन है जो पौधों की जड़ों और बीजों में रहा करती है यही उन पौधों को जल से परिपूरित कर दिया करती हे। वैसे ही धर्म भी अधर्म निवृत्ति का कारण तो बनता है, किन्तु उसकी शक्ति को देह, इन्द्रियाँ और अवयव स्वतः ही खींचते हैं। शुद्धि और अशुद्धि में, धर्म और अधर्म में अत्यन्त विरोध है। इसलिए धर्म प्रकृति के परिवर्तन में उपादान कारण न होकर निमित्त कारण होता है। इसमें नन्दीश्वर और नहुषादि के उदाहरण हैं। जैसे नहुष राजाकों ऋषियों के शाप से तत्काल जात्यन्तर परिणाम हुआ, तत्काल ही उसका जाति-परिवर्तन हो गया। इसलिए जब योगी जात्यन्तर परिणाम का विचार करता है तब वह धर्मादि निमित्त को पा करके जो जात्यन्तर परिणाम अब तक होता आया है, उसके अतिरिक्त भी जब योगी अपने मन में यह सोचता है कि मैं अब इतने बदल लूँ तो उसके संकल्पमात्र से ही तत्काल परिणाम होने लगता है एवं उसका शरीर एवं इन्द्रियादि बदल जाया करते हैं, क्योंकि योगी की प्रकृति पर पूर्ण हुकूमत होती है। इसका सङ्कल्प ही वर्णभेद में कारण होता है। वैसे लोक में मन के सङ्कल्पानुसार आम परिवर्तन देखने में आते हैं। जैसे कि लेख के आरम्भ में हमने यह समझने की चेष्टा की थी कि मनुष्य के मन के अन्दर जो भावनायें कायम रहती हैं, वह उसकी आकृति पर भी उन भावों को प्रकट कर दिया करती हैं। इस क्षेत्र में मन के प्रभाव का जीता-जागता उदाहरण हमारे सुनने में आया। एक मनुष्य के छोटे बच्चे को रात्रि के समय भेडिया उठा ले गया। वह बच्चा मादा भेड़िया ने पाल लिया। कुछ समय बाद आगरे के शिकारियों ने पकड़ा तब उसकी पूरी-पूरी हरकतें तबदील हो चुकी थीं। वह भेड़ियों की बोली बोलता था। उसकी आकृति भेड़िये जैसी थी, यह उसके मन का प्रभाव था कि उसकी हर हरकत भेड़िये के रूप में परिवर्तित हो गई थी। योगी के जात्यन्तर परिणाम में उसका सङ्कल्प मात्र ही परिवर्तन का कारण बन जाता है, क्योंकि वह 'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुम्' की योग्यता वाला हो जाता है।

योगी का चित्त-निर्माण

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने इससे पिछले अङ्क के अपने लेख में योगी के जात्यन्तर परिणाम का वर्णन किया था। प्रकृति के खजाने में सभी शक्तियां परिपूरित रहती हैं। उनमें कभी कोई कमी नहीं आती। आवश्यकता इस बात की है कि उनका उपयोग करने वाला मनुष्य इतनी योग्यता रखता हो कि वह प्रकृति पर शासन कर सके और जिस ताकत का जिस तरह चाहे उपयोग कर सके। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

नासतो विद्यते भावो,

नाभावो विद्यते सत:।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्व-

नयोस्तत्त्वदर्शिभि:।।

अर्थात् जो वस्तु है वह कहीं जायेगी नहीं और जो नहीं है वह कहीं से आयेगी नहीं। तत्वदर्शी लोगों ने इन दोनों के वस्तु-तत्त्व को वस्तुत: यथार्थ स्वरूप में सभी प्रकार जान लिया है। केवलमात्र परिणाम होते रहते हठैं। परिणामों में केवलमात्र रूपान्तर स्थिति होती है। वस्तु-तत्त्व में कोई परिवर्तन नहीं आता, परिणाम के स्वरूप को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। साधारण मिट्टी को अगर हम कूटपीस छानकर रखते हैं और फिर किसी से पूछते हैं कि अरे! भाई यह क्या चीज है? तो वह दूसरा व्यक्ति उसे देखकर कह देगा कि कुछ नहीं मिट्टी का चूर्ण है। इस प्रकार कूट-कपड़छन करने से मिट्टी में ही एक नया परिणाम हो गया, जिसको हम मिट्टी न कहकर मिट्टी का चूर्ण कहेंगे। पुन: इस मिट्टी के चूर्ण को पानी से भिगोकर एक गोला बना लिया, फिर किसी दूसरे से पूछा, बताओ यह क्या है? तो उसने उसे देखकर उत्तर दिया कि यह मिट्टी का एक गोला है। पानी मिलाकर गोल कर देने से उसी मिट्टी के अन्दर गोला रूप एक नया परिणाम हो गया। मिट्टी उसमें ज्यों की त्यों बनी हुई है। यदि यदि उस गोले में से मिट्टी का अस्तित्व निकाल दिया जाय तो गोले का भी कोई भी अस्तित्व नहीं रहता। इसी प्रकार इसी गोले से घट-सकोरा आदि आदि परिणाम उत्तरोत्तर होते चले जायेंगे। उन सब परिणामों में मिट्टी का अस्तित्व बराबर रहेगा।

इसी प्रकार इससे पहले अपने लेख में योगी के जात्यन्तर परिणाम का जिक्र हमने किया था, जिसमें योगी का अपना अस्तित्व तो ज्यों का त्यों बना ही रहता है। अन्तर हुआ तो इतना ही कि उस योगी ने अपने मानवीय शरीर के अन्दर शेर-चीता बघेरा आदि के परमाणुओं का आकर्षण कर लिया तथा उस योगी ने अपने अस्तित्व को भी ज्यों का त्यों कायम रखा तथा अपने आप को मनुष्य जाति से अन्य जाति में भी परिवर्तित कर दिया। जिसको देख करके उसके यथार्थ वस्तु-तत्त्व को न जानने वाले व्यक्तियों ने उसको शेर, चीता, बघेरा आदि बतलाया। इसमें यथार्थ में बात तो कुछ भी नहीं थी। योगी की अपनी आत्म-सत्ता ज्यों की त्यों ही कायम थी। उसने केवल अपनी सङ्कल्प शक्ति से अपने ही शरीर में एक परिणाम पैदा कर लिया था, जिसके फलस्वरूप वह शेर-चीता आदि कहलाया। इस जात्यन्तर परिणाम में उस योगी ने अपनी देह इन्द्रियाँ आदि सभी में परिणति बना ली, जिससे वह परिणामान्तर में भाषित होने लगा। यही जात्यन्तर परिणाम का स्वरूप समझाया गया था।

इसी प्रकार योगी जब काय-निर्माण करता है तो उसमें चित्त-निर्माण की भी आवश्यकता रहती है। आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णं के लीला-चरित्रों में स्थान-स्थान पर उनके काय-निर्माण का बहुत बड़ा वर्णन मिलता है। जिस समय उन्होंने शरद-पूर्णिमा के अवसर पर महारास का अभिनय किया, वहाँ स्पष्ट लेख मिलता है कि—

अंगनामंगनामन्तरो माघवो माघवं माघव: मन्तरेऽअंगना।
इत्थमाकल्पितेमण्डले मध्यग: संजगौ देवकीनन्दन:।

अर्थात् दो-दो स्त्री के बीच में एक-एक कृष्ण दिखाई दे रहे थे और इस प्रकार की गोल आकृति बन जाने के बाद मध्य में भगवान सबसे अलहदा भी दिखलाई दे रहे थे। यह था उन महा योगिराज का परम महान काय निर्माण। अब इससे आगे के प्रकरण में समझाने वाली बात केवल एक ही है और वह यह है कि उन महा योगेश्वर ने इतना बड़ा काय-निर्माण तो किया, किन्तु उन सब कायाओं में इतने चित्त कहाँ से आये? और इन सब चित्तों का निर्माण कैसे हुआ? क्या वे सब कायायें एक ही मन वाली थीं या उन सबमें जितने मन थे, क्या वे सब भिन्न-भिन्न थे? इतने चित्तों का निर्माण कैसे और कहां से हुआ? इसी सब विषय को भगवान पतंजलि देवजी ने अति स्पष्टीकरण के साथ इस प्रकार समझाया है :

निर्माण चित्तान्यस्मिता मात्रात्

इस सूत्र पर श्री व्यास जी का भाष्य इस प्रकार है—

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माण चत्तानि करोति, ततः स चित्तानि भवन्ति।

अर्थात् योगी अपनी अस्मिता के बल से अपने बहुत से चित्तों का निर्माण करता है। तब ही योगी की वे निर्मित कायायें चित्त वाली बनती हैं। योगी जिस समय समाधि का अभ्यास करना प्रारम्भ करता है तो पहले वह विकर्तानुगत योग का अभ्यासी बनता है। उसके बाद विचारानुगत एवं आनन्दानुगत श्रेणियों से निकलता हुआ अस्मितानुगत योग अस्मितानुगत योग में प्रवेश करता है। इस स्थिति में अस्मि सत्ता के नाम से योगी का शुद्ध अहङ्कार रहता है, जिसमें पहुँच जाने पर योगी के सङ्कल मात्र से सभी काम होने लगते हैं। यहां पर योगी का दृढ़ सङ्कल्प उसके अपने अनेकानेक चित्तों का निर्माण करता है। यह उस योगी की एक महान सिद्धि होती है। वैसे साधारण रूप से तो—

जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजा सिद्धयः

इस सूत्र के नियमानुसार भी चित्तों का निर्माण होता रहता है, किन्तु जन्मौषधि मन्त्र तप आदि निर्मित हुए सभी चित्त क्लेशमूलक कर्माशय से सम्बद्ध रहने वाले होते हैं, पर योगी का अस्मिता से पैदा होने वाला यह चित्त शुद्ध और कर्म विस्तार को समाप्त करने वाला होता है। इसी चित्तका स्वरूप समझने के लिए भगवान पतंजलिदेव ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि—

तत्र ध्यानजमनाशयम्

अर्थात् वहाँ पर यह ध्यानज चित्त कर्माशय से सम्बन्ध रखने वाला नहीं होता। प्रत्युत शुद्ध एवं प्रेरक होता है। व्यास जी ने भी इस सूत्रपर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

पंचविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधि मंत्र तपः समाधिजा सिद्धय इति, तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तस्यैव नास्त्पाशयो रागादि प्रवृत्तिनति पुण्यपापाभि सम्बन्धः क्षीण क्लेशत्वाद् योगिन इति इतरेषान्तु विद्यते कर्माशयः।

अर्थात— क्योंकि योगी क्षीण क्लेश होते हैं अतः योगियों का यह चित्त भी कर्माशय से रहित, पाप-पुण्यादि से रहित और राग-द्वेषादि की प्रवृत्ति से रहित होता है। इस चित्त का कर्माशय से सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु योगी के शुद्ध सङ्कल्प से पैदा हुआ होने के कारण भूतानुग्रहकारी योगी करता है एवं शुद्ध स्थिति में ठहरने वाले योगी का अपना चित्त-निर्माण सङ्कल्प भी भूतानुग्रह के प्रयोजन को ही रख कर होता है।

अब प्रश्न एक पैदा होता है और वह यह कि अनेकों चित्त-निर्माण कर लेने के बाद उनको प्रवृत्ति देने वाला चित्त कौनसा होता है? इसी बात को स्पष्ट करने के लिए भगवान पतंजलिदेव आदेश करते हैं—

प्रवृत्ति भेदे प्रयोजकं चित्तमेकेषाम्

व्यास-भाष्य के अनुसार इसका आशय हुआ-

बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरस्सरा प्रवृत्तिरिति सर्व चित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते, ततः प्रवृत्ति भेदः।

अर्थात् बहुत से चित्तों का निर्माण हो जाने के बाद उन सबको प्रेरणा देने वाले आशय रहित शुद्ध चित्त का योगी निर्माण करता है। इसी चित्त के अधीन वे अन्य चित्त भी सब काम किया करते हैं। योगी अपने अस्मिता चित्त से इसका निर्माण करता है और अपने मन के सङ्कल्प के अनुसार ही अन्य निर्मित चित्तों को प्रेरणा दे करके सब काम कराया करता है। यही योगियों के निर्मित चित्त उस ध्यानज प्रधान चित्त के अधीन होकर विभिन्न प्रकार की प्रेरणा दिया करते हैं, जिससे सांसारिक लोगों का भला हुआ करता है। इसी निर्माणित चित्त के द्वारा ही ईश्वर भी भूतानुग्रह प्रयोजन रख करके 'मैं प्राणियों का उद्धार करूँगा।' इसी सङ्कल्प को सामने रख करके काम किया करते हैं। जैसा कि-

तस्मात्मानुग्रहभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं, ज्ञान-धर्मोपदेशेन कल्पप्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्ध-रिष्यामीति, तथा कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञा-समानाय तन्त्रं प्रोवाच इति।

अर्थात् मुझे ईश्वर का आत्मनुग्रह का कोई प्रयोजन न होने पर भी मैं ज्ञान, धर्म, उपदेश के द्वारा कल्प महा प्रलयादि में भी सांसारिक पुरुषों का उद्धार करूँगा। इसी सङ्कल्प को लेकर अपने शुद्ध निर्माण-चित्त का प्राक्ट्य करता है। जैसे करुणावश होकर भगवान कपिलदेव ने निर्माण-चित्त का आशय लेकर जिज्ञासु आसुरी को तन्त्र का कथन किया। श्री आनन्दकन्द योगेश्वर सद्गुरु के दरबार में इस प्रकार की अनेकानेक घटनायें देखने में आती थीं। हमने स्वयं देखा है कि श्री प्रभु जी एक स्थान पर ही बैठे हुए हैं और अनेकानेक साधकों को निर्माण चित्त के द्वारा ही वे दिव्य उपदेश दे रहे हैं। जो साधक अपनी ध्यान समाधि में उन उपदेशों को सुनते थे, वे ही पूर्ण विरक्त हो करके वैराग्यमय बन जाया करते थे। इन सब बातों का अनुभव करने के लिए योगी को अपना अभ्यास इतना ऊँचा बढ़ाना चाहिए कि वह स्फुट-प्रज्ञालोक तक पहुँच जाय, तभी वह यथार्थ ज्ञाता बन पायेगा और उसकी आत्मा रूपी वीणा तभी झंकृत होकर सदा यह उपदेश करेगी—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चिद् दुःखभागभवेत्।।

योगियों के आकृष्ण-आशुक्ल कर्म

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने सितम्बर और अक्टूबर के सिद्धयोग' में योगी के चित्त-निर्माण का वर्णन किया है। जहाँ योगी के अन्दर काय-निर्माण की शक्ति पैदा होती है वहाँ उससे पहले योगी को चित्त-निर्माण की शक्ति पैदा हो जाया करती है। यह निर्मित चित्त वही कार्य करता है, जो योगी का शुद्ध चित्त चाहता है। हम पहल ही समझ चुके है कि—

प्रवृत्तित्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेकेषाम्

प्रवृत्ति भेद से एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रेरक हुआ करता है। वैसे निर्माण चित्त पाँच प्रकार का होता है—

जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजा सिद्धयः

के अनुसार कुछ निर्माणित चित्त जन्म से ही हुआ करते हैं? कुछ औषधियों के विशेष प्रभाव से, कुछ मन्त्रों के बल से एवं कुछ तप से शक्तिमान् बनते हैं और कुछ समाधि की शक्ति से प्रेरित होते हैं। किन्तु इन सभी चित्तों में ध्यानज चित्त को छोड़ करके अन्य सभी चित्त कर्माशय के अधीन हुआ करते हैं, किन्तु योगी जिस चित्त का समाधि के बल से निर्माण करता है, वह आशयरहित होता है। कर्माशय से उस चित्त का कोई सम्बन्ध नहीं होता। भगवान पतंजलिदेव ने उसी चित्त का रूप समझाते हुए कैवल्य पाद में छठे सूत्र में कहा है-

तत्र ध्यानजमनाशयम्

श्री व्यास-भाष्य में इस पर कहा है कि—

पञ्चविधि चित्तों में ध्यानज चित्त का कर्माशय नहीं होता, क्योंकि क्षीण क्लेश होने के कारण इस चित्त का पाप-पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिए सभी कर्माशय क्लेश-मूलक हुआ करते हैं एवं योगी लोग क्षीण क्लेश हो जाने के कारण वह कर्माशय रहित हो जाया करते हैं। कर्माशय की अभिव्यक्ति करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने निम्न सूत्र में कहा है—

क्लेशमूलः कर्माशयोः दृष्टाष्टजन्म संवेदनीयः।

अर्थात् दृष्टा दृष्ट जन्म संवेदनीय कर्माशय क्लेश-मूलक हुआ करता है। किन्तु ध्यानज चित्त का सम्बन्ध इस कर्माशय से बिल्कुल नहीं होता। वह आशय रहित चित्त होता है इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने योगियों के कर्म अ कृष्ण आशुक्ल माने हैं। जिन कर्मों का सम्बन्ध न पाप से न पुण्य से होता, ऐसा योगियों का कर्माशय पाप-पुण्य से रहित होता है। क्योंकि योगी लोग जो कर्म करते हैं वह पाप-पुण्य रहित कर्तृत्व बुद्धि से करते हैं।

योगिनः कर्म कुवन्ति संगं त्यक्त्वा आत्म शुद्धये:।

अर्थात् योगी लोग संग को छोड़कर राग द्वेषादि रहित कर्म करते हैं। इसीलिए कर्म विवेचना में भगवान पतंजलिदेव ने इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए कैवल्य पाद के सातवें सूत्र में स्पष्ट निर्देश कर दिया है—

कर्मा शुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

इस पर व्यास-भाष्य इस प्रकार है—

चतुष्पात् खल्वियं कर्मजाति कृष्णा, शुक्ल कृष्णा, शुकला, अशुक्ला-कृष्णा चेति, तत्र कृष्ण दुरात्मनां शुक्ल कृष्णा वहिः साधन साध्या, तत्र परपीढ़ाऽनुग्रह द्वारेण कर्माशय प्रचयः, शुक्ला तपः स्वाध्याय ध्यानवनां साहि केवले मनस्याय-त्तत्वादवहिः साधनाधीनां न परान्पीडयित्वा भवति, अशुक्ला कृष्णा संन्यासिनांक्षण क्लेशानाम् चरम देहानामिति, तत्रा शुक्लं योगिन एवं फलसंन्यासाद् अकृष्णं चानुपादानाद्, इतरेषां तु भृतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति।

अर्थात् कर्मजाति चार प्रकार की है जिनमें से पाप की, पुण्य की, पाप और पुण्य की रली मिली और न पाप की न पुण्य की। उनमें से कृष्णरूप पाप-कर्म, पापी लोगों के होते हैं और वहाँ पर दुःख न देना दूसरों पर अनुग्रह करना इस प्रकार का कर्माशय पुण्यात्मक कर्माशय कहा जाता है। यह बाहर के साधनों के अधीन कर्माशय प्रचय किया जाता है। यह पुण्यात्मक कर्माशय पुण्यात्माओं के हुआ करते हैं। कर्माशय के दो खास विभाग होते हैं। जैसा कि पतंजलिदेव ने साधन पाद के १२ वें सूत्र में स्पष्ट किया है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टदृष्ट जन्मवेदनीयः

अर्थात् कर्माशय क्लेशमूलक है और उसके दो विभाग हैं एक विभाग इस जन्म के कर्म-फल इसी जन्म में फल देने वाला है। इस कर्माशय को दृष्ट जन्म संवेदनीय कहा गया है। और दूसरा, कर्माशय कर्म प्रचय प्रघट्ट को जन्म-जन्मान्तर में फल देने वाला होता है। कुछ भी हो चाहे इस जन्म में फल देने वाला हो चाहे जन्म-जन्मान्तर में फल देने वाला हो, किन्तु यह तो नितान्त सत्य है ही कि कर्माशय की उत्पत्ति अविद्यादि क्लेशों से ही होती है। इसी कारण से कर्माशय को क्लेश-मूलक कहा गया है, किन्तु यह कर्माशय साधारणतया सांसारिक लोगों पर ही लागू है। कर्मासक्ति ही कर्म की जननी है। इस लेख में हम ऊपर बतला चुके हैं कि भगवान पतंजलि देव ने हमारी कर्म-जाति को चार प्रकार से माना है। पुण्य के कर्म, पाप के कर्म, पाप और पुण्य के मिले-जुले कर्म, और चौथे कर्म वे हैं जो न पाप के होते न पुण्य के। कर्माशक्ति को छोड़ करके कर्तव्य-बुद्धि से जो योगी कर्म करते रहते हैं, वे सबके सब निष्काम कर्म कहलाते हैं। ऐसे कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। ऐसे कर्मों के लिए भगवान आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में निर्देश कर दिया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्ट, स्तस्य कार्यं न विद्यते।।

नैव तस्य कृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य कर्म भूतेषु, कश्चिदर्थ व्यपाश्रय:।।

अर्थात्— जो व्यक्ति आत्म रति होते हैं और अपने आत्मा में तृप्त रहता है एवं आत्म-ध्यान में ही सन्तुष्ट है, उसका संसार में कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। वह कोई कर्म करले तो भी ठीक है और न करे तो भी ठीक है। सब प्राणियों में उसका कोई भी अर्थ व्यपाश्रय रहता ही नहीं। वह यदि, कर्म करता है तो केवल मात्र लोक संग्रह निमित्त करता है। क्योंकि इस लोक का नियम है कि—

यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:।
स यत्प्रमाणं कुरुतं लोकस्तदनुवत।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है संसार वाले सभी लोग उसका अनुसरण किया करते हैं। वह जिस सिद्धान्त को प्रमाणित मानता है, उसी को और लोग भी अवश्य मानते हैं। इसी सिद्धान्त को समझाने के लिए अखिलात्मा लोक-पावन कालचक्र-जगचक्र एवं युगचक्र को एक साथ घुमाने वाले श्रीकृष्ण ने अपना ही उदाहरण दिया है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं, त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं, वर्त एवं च कर्मणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं, जातु कर्मण्यतन्द्रित:।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्या: पार्थ सर्वश:।।
उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता, स्यामुपहन्यामिमा: प्रजा:।।

अर्थात् तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है। न ही ऐसी कोई वस्तु है, जिसका प्राप्त करना शेष हो, किन्तु फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। यदि मैं आलस्य छोड़कर कर्म न करू, तो यह लोक नष्ट हो जायेंगे। वर्णसङ्कर धर्म चल पड़ेंगे, इस सारी प्रजा का विनाश हो जावेगा। क्योंकि यह सारा संसार मेरे पीछे चलता है, इसलिए लोक संग्रहार्थ मुझे कर्म करने ही पड़ते हैं।

वे हैं अखिल अखण्ड ब्रह्माण्ड पावन श्रीकृष्ण के पाप-पुण्य रहित लोक-संग्रहणार्थं किये जाने वाले कर्म। इन्हीं कर्मों को भगवान पतंजलि देव ने आकृष्ण आशुक्ल कहा है। इस विषय में विषय को स्पष्ट करने वाला श्रीकृष्ण का ही एक उदाहरण याद आ रहा है। एक बार भगवान श्रीकृष्ण वृन्दावन में निवास कर रहे थे, उसी समय कहीं से घूमते हुए दुर्वासा ऋषि वृन्दावन में आये और यमुना के उत्तरी तट पर ठहर गये। वहाँ यमुना-जल के तेज प्रवाह के कारण कोई जा ही नहीं सकता था। श्रीकृष्णचन्द्र ने बृज-गोपियों से कहा कि गोपियो! महामुनि दुर्वासा जी हमारे गुरुदेव हैं और वे यमुना के उस पार आकर ठहरे हुए है। तुम सबको वहाँ जाकर उनके दर्शन करने चाहिए। उन सबने भगवान श्रीकृष्ण से पूछा- हम यमुना के उस पार कैसे जाये? यमुना में जल अथाह है। भगवान ने उत्तर दिया कि तुम यमुना तट पर जा करके यमुना से कह देना कि यदि श्रीकृष्ण अच्युत है तो तू हमें रास्ता दे दे। गोपियों ने वैसा ही किया जैसा श्रीकृष्ण ने कहा था और परिणाम अनुकूल ही निकला यानी यमुना में बहुत थोड़ा-थोड़ा जल रह गया और बृज-गोपियाँ सुगमता से पार हो गईं। पार जाकर उन्होंने श्री दुर्वासा जी की सभी प्रकार से पूजा की और मक्खन, दूध, मीठा, पकवान खिलाकर तथा चरणवन्दना करके लौटने के लिए पुन: यमुना तट पर आ गई। वहाँ देखा तो यमुना जी का वह पुन: पूर्ववत अथाह था। गोपियों ने विचार किया कि उधर से आने में तो श्रीकृष्ण के अच्युत होने की दुहाई हमने लगाई थभ, जिसके फलस्वरूप हम यमुना से पार हो गई थीं, किन्तु अब क्या किया जाय? सबने सोच-विचार कर यह समस्या श्री दुर्वासा जी के सामने रखी। श्री दुर्वासा ने कहा कि यमुना जी से निकल कर कैसे आई थी? तब गोपियों ने बताया कि भगवान श्रीकृष्ण के अच्युत होने की दुहाई देकर हमने यमुना पार की थी। तब यमुना में जल कम था, लेकिन अब फिर अथाह जलराशि सामने है। मुनि दुर्वासा जी ने कहा कि ठीक है, अब तुम जाकर यमुना जी ने से यह कहना कि यदि दुर्वासा ऋषि निराहार रहते हैं, कभी कुछ नहीं खाते हैं तो हमें रास्ता दे दो, निश्चय ही ममुना मार्ग दे देंगी। वैसा ही किया और वे सब यमुना जी से पूर्ववत् पार हो गईं। कोई कठिनाई नहीं हुई, उन सब गोपियों के मन में यह आश्चर्य था कि हजारों गोपियों में अनुरक्त श्रीकृष्ण अच्युत एवं मनों पकवान सबके सामने खा जाने वाले दुर्वासा ऋषि निराहार, ये दोनों बातें संगतपूर्ण किस प्रकार हो सकती हैं?

अपने मन की यह शङ्का उन्होंने भगवान से निवेदन की। उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा— है गोपियो! हम दोनों कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करते हैं। कर्मों में हमारा कोई लगाव नहीं। इसीलिए हम पर कर्म बन्धन लागू नहीं होता।

त्यक्त्वा कर्म फलासंगं, नित्य तृप्तो निराश्रय:। कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति स:। निराशीर्यत चित्तात्मा त्यक्त सर्व परिग्रह:। शरीरं केवलं कर्म कुर्वश्राप्नोति किल्विषम्।

अर्थात् जो कर्म फल को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहते हैं। मन चित्तात्मा और आशा रहित हैं वे लोग कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करते। उनके ऊपर किसी प्रकार का भी कर्म फल भोग लागू नहीं होता। इसी प्रकार का एक और भी उदाहरण है।

एक बार श्री द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि हे श्रीकृष्ण! मैं तुम्हें ब्रह्मास्त्र चलाना सिखाये देता हूँ और तुम बदले में सुदर्शन-चक्र चलाना सिखा दो। भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि ब्रह्मास्त्र चलाना हमें तो आता है, किन्तु तुम सुदर्शन चक्र चलाना अवश्य सीख लो। अश्वत्थामा ने कहा कि आप मुझे सुदर्शन-चक्र चलाना सिखा दो। भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया- हाँ-हाँ! तुम अवश्य सीख लो। जाओ मेरा वह सुदर्शन-चक्र उठा लाओ। भगवान के ऐसा कहने पर अश्वत्थामा सुदर्शन-चक्र उठाने गये। पर सुदर्शन चक्र का उठाना तो दूर रहा, वे उसको हिला भी न सकें। लौटकर भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि आपका सुदर्शन चक्र को तो मैं हिला भी नहीं पाया। श्रीकृष्ण ने कहा- अश्वत्थामा! यह ठीक है, जो व्यक्ति पूरे अड़तालीस वर्ष तक अखण्ड वीर्य रहता है, वही इस सुदर्शन-चक्र को स्पर्श कर सकता है और उठा सकता है। इसको चलाने उठाने का अधिकार अच्युत पुरुष को ही होता है। तुम इसको स्पर्श कर आये, यही बहुत बड़ी बात है। अब तुम घोर तप करो, अखण्ड वीर्य रहो, अच्युत पदवी को पाओ, तभी सुदर्शन-चक्र उठाने और चलाने की बात करना। अश्वत्थामा को यह आश्चर्य था कि जिनकी सोलह हजार एक-सौ आठ रानियाँ हैं और अनेकों पुत्र-पौत्र हैं, वे भगवान अच्युत पुरुष है और हम ब्रह्मचारी होते हुए भी यह पदवी हमें प्राप्त नहीं। उत्तर इसका केवल यही था कि कर्मासक्ति ही बन्धन का कारण होता है। अत: चार प्रकार की कर्म जाति में तीन प्रकार के कर्म सर्व साधारण के होते हैं। लेकिन आसक्ति और पाप-पुण्य रहित कर्म आकृष्ण-आशुक्ल केवल योगियों के हुआ करते हैं।

कर्म विपाक एवं उसकी वासनायें

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने इससे पहले अपने लेख में चतुर्विधि कर्म-जाति का वर्णन कर चुके हैं। उसमें हमने यह सझाया था कि आशुक्ल और आकृष्ण कर्मयोगियों के होते हैं। क्योंकि उनका सिद्धान्त रहता है कि वे कर्माशक्ति छोड़कर अनासक्त भाव से या कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करते हैं। इसीलिए पाप, पुण्य आदि के झमेले से वे (योगी) बचे रहते हैं। प्रतिकूल इसके सांसारिक व्यक्ति त्रिविधि पुण्य पाप के झमेले में पड़े रहा करते हैं। विचारणीय बात यह है कि कर्मों के भुगतान काल में कर्म वासनाओं की अभिव्यक्ति कैसी होती है। वैसे वृत्ति संस्कार चक्रअहर्निशि चलते रहते हैं। वृत्तियों से संस्कार और संस्कार से वृत्तियों की उत्पत्ति प्रति क्षण होती रहती है। यही सारा बन्धन मनुष्य के जन्म-मरण का हेतु बनता है जैसे वृक्षों से बीज और बीज से वृक्ष बनता रहता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए भगवान पतंजलिदेव ने योग-दर्शन में यह सूत्र दिया है :-

ततस्तद्विपाकानु गुण नामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।

अर्थात् उन तीन प्रकार के कर्मों से उनके फल के अनुकूल ही वासनाओं की अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है। इस सूत्र पर व्यास-भाष्य इस प्रकार है :-

तत इति त्रिविधात्कमण: तद्विपाकानु गुणानामेवेति = यज्जातीयस्य कर्मणोयो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासना: कर्मविपाकमनुशेरते तासा मेवाभिव्यक्ति:, न हि दैवं कर्म-विपच्यमानारकतिर्यङ् मनुष्य वासनाऽभिव्यक्ति निमित्तं संभवति। किन्तु देवानु-गुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते, नारक तिर्य्यङ् मनुष्येषु चैवं समानश्चर्च्च:।।

अर्थात— जैसा कि पहले समझाया जा चुका है कि कर्म जाति चार प्रकार की होती है। पाप की, पुण्य की, पाप और पुण्य की रली मिली एवं चौथी न पाप की न पुण्य की। ये ही चारों प्रकार की कर्म जाति अपने अनुरूप वासनाओं का भी जन्म देती है। वैसे लोक में पाप, पुण्य एवं पाप पुण्य रले मिले यह तीनों प्रकार की ही कर्म विपाक एवं इन्हीं का अनुसरण करनी वाली वासनायें हुआ करती है। कर्म की जैसी जाति है एवं जैसा उसका विपाक होता है उसका अनुसरण करने वाली वासनायें चित्त में सोती सी रहा करती है। अपना अवसर पाने पर इन ही वासनाओं की अभिव्यक्ति हो जाया करती है। अपना अवसर पाने पर इन ही वासनाओं की अभिव्यक्ति हो जाया करती है। यह निश्चित बात है कि यदि हमारे भाग्य में दैविक कर्मों का परिपाक हो रहा है तो वह दिव्य कर्म फल दैविक भावनाओं की अभिव्यक्ति ही करेगा, यह नहीं हो सकता, दैविक काल के भोग काल में नरक तिर्यंक योनि या मनुष्य जन्म की भावनाओं की अभिव्यक्ति हो जाये। अपितु दिव्य कर्मों के भोग काल में दिव्य कर्म के अनुसार दिव्य कर्मों का अनुसरण करने वाली भावनाओं को ही जाग्रति होगी। और इस ही प्रकार यदि नरक तिर्यक योनि या मनुष्य जन्मों के कर्मों का भोग काल है तो उस भोग के समान ही तिर्यक् योनि मनुष्य आदि के अनुरूप ही भावनाओं की जाग्रति होगी। इस सिद्धान्त को निश्चित रूप से मन में जान लेना चाहिये। ये वृत्ति संस्कार चक्र रात दिन बराबर चलता रहता है। जिसके कारण मनुष्य को बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहना पड़ता है। यहाँ और एक प्रकार का प्रश्न पैदा होता है और वह यह है कि इन वासनाओं की कर्म फलानुरूप जाति देश एवं काल के दूर होने पर दूरत्व हो जाना चाहिए अर्थात् जैसे कभी किसी समय में कृष्ण जातीय कर्म किए थे और किसी दूर देश में किए थे समय में भी बहुत लम्बा चौड़ा अन्तर है ऐसी स्थिति आ जाने पर उन-उन कर्मों का भोग उन-उन जाति के अनुसार उन-उन देशान्तर में एवं भिन्न-भिन्न काल में होना चाहिए। किन्तु भगवान् पतंजलि देव स्मृति और संस्कार की एकरूपता होने के कारण एक ही समय में उसका उपभोग बतलाते हैं।

जाति देश काल व्यवहिता मामप्यानन्तर्य्य स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात्।

इस पर व्यास भाष्य इस प्रकार है :—

वृषदंशविपाकोदय: स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्त:, स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्प शतेन वा व्यवहित:पुनश्च स्वव्यञ्ज काञ्जन एवोदियाद् द्रागित्येवं पूर्वानुभूत वृषदंश विपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत, कस्मात्? यतो व्यवहिता नामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्या-नन्तर्य्यमेव कुतश्च ? स्मृति संस्कारयोरेकरूपत्वद्यथाऽनु-

भावस्तथासंस्काराः। ते कर्मवासनानुरूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जाति-देशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येते स्मृति-संस्काराः कर्माशय वृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्त-नैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति।

अर्थात् जब-जब भी किसी कर्मफल का उदय होता है, तब तब अपनी अभिव्यक्ति करने वाले प्रकाशक कर्म की सहायता को प्राप्त कर हुआ करता है। जैसे हमारा कोई जन्म सैकड़ों हजारों जातियों में परिवर्तन होता हुआ हो रहा है और जहाँ जितनी दूरी पर पहले हम थे व जितना भी लम्बा समय व्यतीत हो गया हो अर्थात् कितना भी लम्बा-चौड़ा व्यवधान बीच में आ गया हो, तो भी अपने को प्रकाश देने वाले अभिव्यक्ति प्रकाशक कर्म की सहायता पाते ही उन-उन वासनाओं का एकदम उदय हो जायेगा। जैसे पूर्व-जन्म मे अनुभव किये कोई कर्म हैं, उन कर्मफलों से बनी हुई वासनाओं को पा करके कर्म का प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार से देश, काल, जाति के दूर रहने पर भी उनके प्रकट करने में उनका प्रकाशक कर्म समान रूप वाला निमित्त बन जाता है। यही कारण है कि उसमें दूरत्व का अभाव हो जाता है, क्योंकि स्मृति-संस्कार एक रूप वाले होने से जैसे अनुभव की हुई स्मृति होती है, उसी उसी प्रकार के संस्कार भी बन जाते हैं। वासना के अनुरूप संस्कार और संस्कार के अनुरूप वासना का उदय हुआ करता है। जाति, देश, काल के दूर रहने पर भी निमित्त नैमित्तिक रूप से बने ही रहते हैं। इस कारण से इस वृत्ति संस्कार-चक्र के उपभोग में देश, जाति, काल कोई बाधा नहीं डालते, इनकी दूरी रहने पर भी वृत्ति संस्कार-चक्र अहर्निश चलता ही रहता है। वासनायें अनादि-काल की मनुष्य के मन में रहा करती हैं, क्योंकि प्राणी के मन में आशीर्वाद की भावनायें सदा सर्वदा कायम रहती हैं। हर व्यक्ति को प्यार से सुख-जीवन का ज्ञान होता रहता है और ताड़ना से मृत्यु का ज्ञान होता है। उसी प्रकार का निर्देश भगवान पतंजलि देव करते हैं :-

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्

व्यास-भाष्य—

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वोदनादित्वम्। येय-मात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्व दृश्यते सा नु स्वाभाविकी। कस्मात्? जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेष-दुःखानुस्मृति निमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायो-पावर्तत इति। घटप्रासादप्रदीप कल्पं सङ्कोचविकासि चित्तं शरीर परिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकासिनीत्याचार्यः। तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् निमित्तं च द्विविधम् बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदीनाभिवादनादिचित्तमात्राधीनं श्रद्धद्याध्यात्मिकं तयाचोक्तम्- ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां बिहारस्ते बाह्यसाधननिरनु ग्रहात्मानः प्रकृं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते, दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारोरेण कर्मणा शून्यं कर्तुत्सहेत कः समुद्मगरत्यवद्धा पिवेत्।

अर्थात् जो-जो कर्मफलानुरूप वासनायें बनती हैं, उन सभी वासनाओं का आशीर्वाद की नित्यता से अनादित्व सिद्ध होता है। हमारे लिए यह जो भावना बनी रहती है कि इस प्रकार का मैं न होऊँ, मैं सदा सुखी रहूँ। यह भावना सभी प्राणियों में बराबर देखी जाती है, यह भावना स्वाविकी नहीं है। मृत्यु-ज्ञान की दुःख की अनुभूति के बिना तत्काल पैदा हुए बालक के मन में मृत्यु से डरने वाला जो भय है, वह जन्म-जन्मान्तर की मृत्यु की स्मृति का कारण है, स्वाभाविकी प्रवृत्ति कभी भी निमित्त का सहारा नहीं लेती। यही कारण है कि अनादि काल की बंधी हुई वासनाओं में बंधा चित्त निमित्त कारण को पा करके पुरुष की आयु भोग का साधन बनता है। घड़े में फैले हुए दीपक के प्रकाश की तरह चित्त का स्वभाव संकोच-विकास का है। हमारे इस चित्त की वृत्ति बहुत ही संकोच एवं विकास वाली है। जैसे घड़े के अन्दर रखा हुआ प्रकाश घड़े के अन्दर संकुचित है और उसी दीपक को अगर हम बाहर रख दें तो वहीं फैलने वाला बन जाता है। इसी प्रकार हमारा चित्त भी धर्मादि निमित्तों के सहारे से घटने और बढ़ने वाला है। धर्मादि निमित्त बाह्य और अध्यात्म भेद से दो प्रकार के हैं। शरीर के अवलम्ब से दान धर्म-पुण्य स्तुति के हैं। शरीर के अवलम्ब से दान धर्म-पुण्य स्तुति करना या अन्यान्य साधनायें करना यह बाह्य हैं। इसके अतिरिक्त चित्त मात्र के अधीन श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञापूर्वक आध्यात्मिक है, जैसा कि उदाहरण में दर्शाया गया है। जो लोग मैत्री-करुणा के साथ अपने व्यवहार को सम्पन्न करते हैं। स्वार्थ रहित ये सभी साधनायें अति उत्तमता के साथ धर्म को प्रकाशित कर देती हैं। इनमें मानस अत्यन्त बलवान् हैं। मानस-साधन के बल से मनुष्य बाह्य वासनाओं को भी परिपूर्ण कर लेता है। यदि उसकी मानसिक साधनाओं में व्यतिक्रम है तो बाह्य साधना में अन्तराय पैदा स्वाभाविक हो जायेगा। यद्यपि वासनाओं का अनादित्व बार-बार अन्तःकरण को प्रेरणा देता रहता है, किन्तु फिर भी उन सभी प्रेरणाओं के प्रकाशित करने के लिए बाह्य साधनाओं का अवलम्ब भी आवश्यक हो जाता है। वासनायें निर्मूल कैसे होंगी और साधक जन्म-मरण के चक्कर से किस प्रकार बच पायेगा? यह अपने आगामी अंक में पूरे तौर से लिखने का प्रयत्न करेंगे। साधक को चाहिए कि उपरोक्त चतुर्विधि कर्म-जाति को समझकर कल्याण के आधारभूत निष्काम कर्मयोग का सहारा ले एवं कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म को करता रहे, तभी आशुक्ल-आकृष्ण कर्मों का अधिकारी बन सकेगा।

स्मृति संस्कार की एकरूपता से--
व्यवधान रहित भुगतान

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

इससे पहले दिसम्बर मास के 'सिद्धयोग' मे हमने कर्म-फलानुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति का वर्णन किया था। अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार के कर्म विपाक को भोगता है, वह कर्म विपाक फल है। फल में जिस प्रकार से बीज रहा करते हैं और वे बीज जमीन में बोये जाने पर पुन: वृक्ष तैयार कर देते हैं एवं वृक्षों से उसी प्रकार का फल और बीज तथा पुन: उसी बीज से उसी प्रकार का वृक्ष तैयार हो जाता है। वृक्ष से फल और उन फलों मे बीज— इसी प्रकार से वृत्ति संस्कार चक्र अहर्निश चलता रहता है, यही चक्र जन्म-मरण का मुख्य कारण बनता है। यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है और वह यह कि एक प्राणी की अनेकों में वासनायें होती हैं और वे सभी जीव अपने-अपने कर्म-विपाकानुसार भिन्न-भिन्न जातियों में जन्म ले लेते हैं। कोई निकटवर्ती देश में और कोई बहुत दूर जाकर जन्म लेते और उनके साथ जो वासनायें बनी हैं, वह दु-मध्याधि वेग वाली होने से किसी का भुगतान काल अभी निकट भविष्य में है और किसी का भुगतान काल बहुत लम्बे समय अर्थात् लाखों वर्षों बाद होने वाला है, इस प्रकार के कर्म-विपाक का भुगतान एक साथ कैसे हो पायेगा? इसका उत्तर देते हुए भगवान पतंजलिदेव कहते हैं—

जातिदेशकाल व्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृति संस्कारयोरेकरूपत्वात्।

इस पर व्यास-भाष्य है—

वृषदंश विपाकोदय: स्वव्यंश्यकाश्चनाभिव्यक्त:, स यदि जातिशतेन वा दूर देशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहित: पुनश्च स्वव्यंश्यकाश्चन एवोदियात् दागित्येवं पूर्वानुभूतवृषदंश-विपाकाभिसंकृता वासना उपादाय व्यज्येत करस्माद् यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यज्जकं निमित्ती भूतमित्या-नन्तर्त्यमेव कुतश्च? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वाद्यथा नुभवा-स्तथासंस्कारा:।। ते कर्म्मवासनानुरूपा: यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्य: संस्कारेभ्य: स्मृति:। स्मृतेश्च पुन: संस्कारा इत्येते स्मृतिसंस्कारा: कर्म्माशयवृत्ति-लाभवशाद्व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिक-भावानुच्छेदादानन्तर्य्यमेव सिद्धमिति।।

अर्थात् इन वासनाओं के जाति देश-कालादि दूर होने पर भी स्मृति और संस्कार की एक-रूपता होने से अन्तर नहीं पड़ता। किसी भी कर्म-फल का उदय अपने प्रकाशक की मदद से हुआ करता है। प्रकाशक-कर्म जब भी उदय होता है, तभी यदि वह जन्म सैकड़ों जाति पहले और हजारों कोस की दूरी पर और हजारों वर्ष के भी अन्तर से हो अर्थात् कितना भी व्यवधान बीच में पड़ गया हो, तो भी अपने प्रकाशक-कर्म की सहायता मिलने पर इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर में अनुभव किये हुए कर्म-फलों से बनी हुई वासनाओं की अभिव्यक्ति होती रहती है। क्योंकि उन वासनाओं का जाति-देश-समय दूर होने पर भी उनको अभिव्यक्ति कर्म, स्मृति और संस्कार की एकरूपता से सानिध्य पैदा कर देता है। जैसा अनुभव किया है उसी प्रकार के संस्कार होते हैं और वे संस्कार भी अपने अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं और जिस प्रकार की वासनायें हुआ करती हैं, उसी-उसी प्रकार की स्मृतियाँ भी रहा करती हैं। स्मृति और संस्कार की एकरूपता होने से वासनाओं में यकायक निकटता आ जाया करती है। जिस प्रकार से चुम्बक अपनी सबल शक्ति से घास तिनके आदि के अन्दर पड़े हुए लोहे को भी आकर्षित कर लेता है। इसी प्रकार प्रकाशक कर्म के उदय होते ही देश-देशान्तर की दूरता एवं जाति काल व्यवधान भी तत्क्षण दूर हो जाता है। इसलिए जब कोई जन्म किसी सबल प्रमुख प्रकाशक कर्म की सहायता से होता है, तब वह कर्म अपने-अपने जन्म-जन्मान्तर में होने वाले विविध कर्म को साथ लेकर ही उस जन्म का दाता बनता है। कोई भी जन्म किसी एक कर्म के फलस्वरूप नहीं हुआ करता। वह दूर देश, दूर जाति व समय के व्यवधान में होने वाले स्मृति और संस्कार की एकरूपता के कारण सभी को इकट्ठा कर लिया करता है। यही इस जन्म का कारण हुआ करता है। किन-किन फल और हेतु के सहारे कर्म-फलों की अभिव्यक्ति होती है, यह सब इससे आगे के लेख में समझाने का प्रयत्न करेंगे। साधकों को चाहिए कि हर समय के बनने-बिगड़ने वाले संस्कार-चक्र को देखकर अपने आपको सावधान रखें एवं संग दोष से दूर रहें।

योग में आसन-सिद्धि का महत्त्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग-सिद्धि में आसनों का विशेष महत्व है। आसन-सिद्धि होने पर ही योग-सिद्धि सम्भव हुआ करती है। अत: अपने इस लेख में हम ''**सिद्धयोग**'' के योग-साधन की इच्छा रखने वाले पाठको के हित में, आसनों के प्रकार और स्वरूप पर अपना अभिमत व्यक्त करना उचित समझते हैं।

भगवान सदाशिव ने अपने ग्रन्थों में ८४ लाख योनियों का वर्णन किया है और ८४ लाख योनियों में विचरने वाले जितने जीव हैं, उन सभी के आसन, शयन आदि कार्य होते रहते हैं। उन सबके बैठने, शयन आदि के प्रकार को ही आसन कहते हैं। आसन शब्द का अर्थ है-

आस्यते अनेन इति आसनम्

अर्थात् जिस विधि से बैठा जाय, उस विधि का नाम ही आसन है। ८४ लाख योनियों के अन्दर जन्म लेने वाले जीव ''येनकेन प्रकारेण प्रकारेण आसन-शयन एवं भ्रमणादि'' करते हैं। इसलिए उनके बैठने की जो क्रिया है, वह उनका आसन है। सर्व शक्तिमान सदाशिव घट-घटवासी अन्तर्यामी प्राणीमात्र की गति को समझने वाले हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं।

कतुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्

की शक्ति वाले हैं। चौरासी लाख योनियों के अन्दर जहाँ-जहाँ भी जीवों ने जन्म लिया है, उन सबकी आसन शयन विधि को वे परमेश्वर पहले से ही जानते थे, इसलिए उनका वर्णन करना उनके लिए असम्भव बात नहीं थी। किन्तु वे सब भगवान शिव के कहे हुए चौरासी लाख आसन आजकल ग्रन्थों में पूर्ण रूपेण उपलब्ध नहीं है। अत: सभी आसनो का वर्णन करना सर्व साधारण के लिए सर्वदा असम्भव है। बहुधा आजकल के योग प्रचारकों में घेरण्ड आदि महर्षियों ने जिन आसनों का वर्णन किया है वे अधिक से अधिक चौरासी या प्रयास करने पर सौ या ड़ेढ़ सौ तक ही मिल पाते हैं, जो योगाश्रमों की व्यायामशालाओं में योगोपदेशक लोग कराते हैं, किन्तु इन सबमें भी चौरासी आसन ही इस प्रकार के हैं जो सर्व साधारण के लिए विशेष लाभप्रद हैं। भगवान पतञ्जलिदेव जी ने आसन का लक्षण लिखते हुए योग-दर्शन में—

''**स्थिर सुखमासनम्**''

कह करके आसन की परिभाषा की है। इन शब्दों का अर्थ है कि जिसके करने से स्थायी सुख की प्राप्ति हो, बैठने की उस क्रिया को आसन कहते हैं। इस सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने कुछ आसनों के नाम भी लिखे हैं— पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तीक आसन, पर्य्यङ्क आसन आदि आदि। 'स्थिर सुखमासनम्' कहने से मनुष्य को जिस भी उपाय से स्थिर सुख लाभ हो उसी क्रिया को आसन कहा जा सकता है, किन्तु भगवान व्यासदेव जी ने उनका स्पष्टीकरण उनका नामोल्लेख करके कर दिया। पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार—

आस्यते अनेन इति आसनम्

कहने से बैठने की क्रिया का ही नाम आसन हमारे ग्रन्थों में मिलता है।

आसन-सिद्धि का प्रयत्न—

आसन करने का क्या फल है? हरेक पशु-पक्षी की बैठने की विधि से हम बैठना सीखें, तब वैसा करने से हम किस परिणाम को पहुँचेंगे, यह सब तो ग्रन्थों में बतलाने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु परामर्श के तौर पर जिज्ञासुओं के लिए यहाँ यह भी पहले समझा देना ठीक रहेगा कि किसी आसन के अभ्यास से हम स्थिर सुख लाभ तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब वह क्रिया हमें पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाय। स्थिर सुख का अर्थ है कायम रहने वाली शक्ति। यह शक्ति ऐसी हालत में उपलब्ध नहीं हो सकती कि हम क्षण-क्षण में अपने हाथ पैरों या आसन को बदलते रहें। ऐसा करने पर तो मन को शान्ति की अपेक्षा अशान्ति ही मिलती रहेगी। क्षण-क्षण मे उस अवस्था में साधक दु:ख का अनुभव ही करता रहेगा और आसन झटपट बदलने की क्रिया करता रहेगा। स्थिर सुख-लाभ तो हमें उसी दशा में सम्भव हो सकता है, जबकि वह जिस आसन से बैठे उसी आसन से कई-कई घण्टे निरन्तर बैठा रहे और बैठे-बैठे यह अनुभव उसे होता रहे कि हम बहुत हल्के हैं और आनन्द में बैठे हुए हैं। अपना शरीर जब साधक को रुई की मानिन्द हल्का मालूम पड़ने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके आसन का अभ्यास लेना चाहिए कि उसके आसन का अभ्यास आसन-सिद्धि की ओर जा रहा है। परमार्थ-जिज्ञासु साधु लोग जंगलों में एक-एक आसन से कई-कई घण्टे बैठने के प्रयत्न में लगे रहते हैं और इस प्रकार का अभ्यास करते हुए उनको वर्षों व्यतीत हो जाते हैं फिर भी वे आसन सिद्ध नहीं कर पाते। भगवान पतञ्जलिदेव जी ने आसन-सिद्धि का एक उपाय लिखा है, जो बहुत ही उत्कृष्ट है और तथ्य से कहा जाय तो उसी का अवलम्ब लेने मनुष्य पूर्णरूपेण आसन-सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। जो इस उपाय का अवलम्ब नहीं लेते उनका प्रयत्न शीघ्र सफलता की ओर अग्रसर नहीं होता।

भगवान पतंजलि देव जी का सूत्र इस प्रकार हैं—

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम्

अर्थात् आसन सिद्धि प्राप्त करने के लिए ऐसे उपाय की आवश्यकता है, जिससे प्रयत्न के शैथिल्य की तथा अनन्त समापत्ति की ओर गति हो। शरीर की स्वाभाविक चेष्टा का नाम प्रयत्न है। इस स्वाभाविक चेष्टा से (शरीर कम्पन) आदि रोकने के निमित्त उपरत होना प्रयत्न की शिथिलता है। इस प्रयत्न की शिथिलता यानी सहजता से आसन सिद्ध होता है तथा आनन्दमय-समापत्ति, जिसका अर्थ आकाश जैसी अनन्तता या ब्रह्म जैसी अनन्त सत्ता में मन का समाहित कर देना होता है मिलती है।

अखण्ड मण्डलाकार व्यापक परमात्मा के स्वरूप में अपने आपको विलीन कर देने से मन एकाग्र हो जाता है। कहीं-कहीं पर योगाचार्य शेषनाग के ध्यान को भी अनन्त समापत्ति कहते हैं, किन्तु कुछ भी हो, उस अनन्त परमात्मा में मन के विलय हो जाने पर योगी को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसका शरीर किस स्थिति में पड़ा है या बैठा है। यही 'प्रत्यत्न शैथिल्य और अनन्त समापत्तिभ्याम्' का अर्थ है।

आज घोर कलि-काल के समय में भी इस प्रकार के दृश्य देखने में आते हैं कि जहाँ पर गुरुदेव जी के पूर्णानुग्रह से शक्तिमान हो जाता है, वहाँ पर भी साधकों के मन एकाग्र हो जाते हैं, ऐसे गुरुदेव जी की कृपा से शक्ति प्राप्त साधकों को अल्प समय में ही कई-कई घण्टे लगातार एक ही आसन से बैठे हुए देखा गया है। इस प्रकार की घटनायें जहाँ पर शक्तिपात दीक्षायें दी जाती हैं वहाँ पर स्वाभाविक घटित होती रहा करती हैं।

एक दिव्य घटना—

एक स्थान पर एक योगिराज ने अपने एक शिष्य पर शक्तिपात किया और योग-दीक्षा दी और वह शिष्य एक आसन से बैठ गया। शक्तिपात के फलस्वरूप उसके मन की इतनी ऊँची एकाग्रता हुई कि उसका मन उस सर्व शक्तिवान् अनन्त सत्ता में विलय हो गया और वह पहले दिन ही जड़वत पत्थर की मूर्ति की तरह से कई घण्टे तक निश्चिन्त बैठा रहा। कई दिन के निरन्तर अभ्यास के बाद उस साधक की इस प्रकार की स्थिति आई कि वह अनन्त समापत्ति से लगातार २४-२४ घण्टे एक ही आसन में बैठा रहता था, तब गुरुदेव जी उसको स्वयं चेतना देकर यह बोध कराया करते थे कि तुम्हें पर्याप्त समय निकल गया है। अब तुम उठो, जाओ और बाहर जाकर मल-मूत्रादि का त्यागन करो। इस प्रकार की दृढ़ स्थिति अनन्त समापत्ति का ही परिणाम था। आसन-सिद्धि का यही सरल एवं उच्चतम उपाय है। जो जिज्ञासु इस कृपा को प्राप्त कर लेते हैं, उनके आसन स्वत: ही सिद्ध हो जाया करते हैं।

आसन-सिद्धि का परिणाम—

ततो द्वन्द्वानभिघात:। शीतोष्णादिभिर्द्वन्दैरासन जयान्नाभिभूयते।

अर्थात् आसन-सिद्धि का सबसे बड़ा फल द्वन्द्वान्भिघात अर्थात् द्वन्द्वों से न सताया जाना होता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के जोड़े को द्वन्द्व कहते हैं। जिस व्यक्ति का आसन सिद्ध नहीं होता, उसको सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि की तृष्णा सताती रहा करती है और द्वन्द्वों से दबाया हुआ वह व्यक्ति कभी भी साधना की पूर्णता को नहीं पा सकता। इसलिए आसन-सिद्धि का द्वन्द्वन्भिघात सबसे ऊँचा परिणाम है। अत: जो लोग परमार्थ-जिज्ञासु हैं, उनको शास्त्रोक्त विधि से आसन जय प्राप्त करने के लिए समापत्ति अवश्य करनी ही चाहिए। यही आसनों के करने का पारमार्थिक लाभ है।

वासनाओं का अनादित्व और प्राकट्य का कारण

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने इससे पहले अपने लेख में **'स्मृति और संस्कार की एकरूपता'** होने के कारण वासनाओं का भुगतान अन्तराय रहित होता रहता है, यह समझाया था। उसके भुगतान में देश, जाति और काल का कोई भी व्यवधान पैदा नहीं होता, क्योंकि स्मृति संस्कारों को जागृत कर देती है, चाहे वह संस्कार लाखों वर्ष पुराना हो और किसी भी समय हुआ हो। भुगतान काल में ज्यों ही इनकी स्मृति आयेगी त्योंही वह पुराने से पुराने संस्कार और वासनायें तत्काल जागृत हो जायेंगे। क्योंकि वासना संस्कारों के अधीन रहती है और वासनाओं से संस्कार बनते हैं। ये वासना संस्कार-चक्र मनुष्य के मन में अहर्निश चलता रहता है। यही कारण है कि निरन्तर जन्म-मरण के त्रास से मनुष्य छूट नहीं पाता, जब तक कि वासनाओं का समूलोन्मूलन न हो जाय। अब प्रश्न एक पैदा होता है और वह यह कि वासनायें आदि अन्त वाली हैं या प्रकृति सम्बन्ध से अनादि हैं? भगवान पतंजलिदेव योग-दर्शन में यथार्थता को बतलाते हुए वासनाओं का अनादित्व बतला रहे हैं और श्री पतंजलि महाराज के भावों को श्री व्यासदेव जी ने अपने भार्षय में भी बिल्कुल वासनाओं का अनादित्व समझा दिया है। सूत्र निम्न प्रकार है—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यवात्

व्यास-भाष्य—

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा नु स्वाभाविकी। कस्मात्? जातमात्रस्य जन्तोरनभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथ भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्त वशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगोयोपावर्तत इति। घटप्रसाद प्रदीपकल्पं सङ्कोचविकासि चित्तं शरीर परिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकासि नीत्याचार्यः। तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षं। निमित्तं च द्विविधम् बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं श्रद्धाद्याध्यात्मिकं तथा चोक्तम्— ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारस्ते बाह्य साधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्म मभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं, ज्ञानवैराग्य केनातिशय्येते, दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्तुमुत्सहेत कः समुद्रमगस्त्यवद्वा पिवेत्।

अर्थात् उन वासनाओं का अनादित्व स्वाभाविक ही सिद्ध है, क्योंकि आशीर्वाद की नित्यता भी स्वाभाविक है, क्योंकि हर व्यक्ति में यह बात स्वाभाविक ही देखने में आती है, वह चाहता है कि मेरे लिए ऐसा कभी न हो और ऐसा नित्य हो, यह स्वाभाविक क्रिया देखने में आती है। हर जीव यह चाहता है कि मैं सुखी रहूँ, मुझे दुःख की अनुभूति कभी न हो। ये स्वाभाविकी क्रिया पैदा हुए मरण-धर्म को अनुभव करने वाले द्वेष, दुःख स्मृति रूप मरण त्रास की अनुभूति स्वाभाविक पैदा हो जाती है, इसमें किसी भी निमित्त की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके बाद किसी भी साधारण निमित्त को पा करके पुरुष के भोग के लिए प्रवृत्त हो जाती है। हमारा अपना जो चित्त है, घट में रखे हुए दीये (दीपक) के मानिन्द संकोच विकास वाला है। कोई-कोई लोग शरीर को चित्त का परिणामाकार मानते हैं। यह बात ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य के शरीर में रहने वाला चित्त मनुष्याकार-पर्यन्त संकोची है। यदि मनुष्याकार की परिधि वाला है और यदि वही चित्त मनुष्याकार से बाहर महाकाश की ओर फैलता है तो वह महाकाश की तरह विकास वाला भी हो जाया करता है। वह हमारा चित्त धर्मादि निमित्त की अपेक्षा लेकर के दो प्रकार का है- बाह्य और आध्यात्मिक। जो चित्त शरीरादि बाह्य साधनों की अपेक्षा रखता है वह बाह्य और जो चित्त स्तुति अभिवादनादि एवं श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि का अवलम्ब लेता है, वह आध्यात्मिक कहलाता है। जो चित्त बाह्य साधनाहीन कार्य करता है, वह बाह्य जगत्त में विकसित होता रहता है और जो चित्त श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदि का अवलम्ब लेकर अन्तर्मुखता की ओर प्रवृत्त होता है, वह अन्तर्जगत में विकास को प्राप्त होता रहता है और कोई कोई ज्ञान, वैराग्य का अतिक्रमण कर देते हैं, वह कर्म संस्कार भोग में इस प्रकार उलझ जाते हैं, जिस प्रकार कोई दण्डक वन में मार्ग भूल जाया करता है।

हमारा चित्त हेतु फल आश्रय और अवलम्बन से पकड़ा हुआ है, इसलिए हेतु, फल, आश्रय आदि यदि होते हैं तो चित्त भी रहता है और अपने संकोच-विकास आदि धर्मों को दिखलाता रहता है और यदि हेतु, फल, आश्रय आदि नहीं होते हैं तो चित्त भी विलय हो जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव ने हेतु, फल आदि का वर्णन निम्नांकित सूत्र में इस प्रकार करते हैं :—

हेतुफलाश्रयालम्बनै: संगृहीत्वादेषामभावे तदभाव:।

व्यास-भाष्य—

हेतु धर्मात् सुखमर्धात् दु:खं, सुखाद्रागो दु:खद्द्वेष:, ततश्च प्रयत्न:, स्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमान: परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा तत: पुनर्धर्माधर्मो सुख-दु:खे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्। अस्य च प्रतिक्षण मावर्तमानस्याविद्या नेत्रीमूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतु:। फलन्तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मदि, नह्यपूर्वोपजन:। मनस्य साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। नह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रय वासना: स्थातुमुत्सहन्ते। यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वातनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्। हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतै: संगृहीता: सर्वा वासना:। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभाव:।

अर्थात् यह संसार-चक्र धर्म-अधर्म, सुख-दु:ख, राग-द्वेष, इस प्रकार से छ: अक्षरों वाला अहर्निश चलता रहता है। इसकी अभिनेत्री मूल कारण अविद्या हे। अविद्या के कारण ही धर्म-अधर्म, सुख-दु:ख एवं राग-द्वेषादि की उत्पत्ति होती रहती हे। मनुष्य धर्म करता है तो उसको सुख होता है, अधर्म (पाप) करता है तो उसको दु:ख होता है।

''सुखानुशयी राग:''

सुख से मनुष्य के मन के अन्दर राग बन जाता है और-

''दु:खानुशयी द्वेष:''

दु:ख से द्वेष की उत्पत्ति होती है। जिन कारणों से दु:ख होता है, उनका मूल द्वेष के अन्तर्निहित है। इसलिए इस षडर संसार-चक्र की अविद्या ही मूल कारण है। अविद्या का चार भागों में पहले वर्णन आ चुका है। जैसे- (अनित्य में नित्यानुभूति, अपवित्र में पवित्रानुभूति, दु:खों में सुख की अनुभूति, अनात्म वस्तुओं में आत्मा की अनुभूति कहलाती है।) अविद्या के चारों स्वरूप ही वासनाओं के हेतु हैं। अर्थात् वासनाओं की प्रवृत्ति अविद्या से ही होती है। यदि अविद्या का अभाव हो जाय तो वासनाओं का अभाव हो जाना भी स्वाभाविक है। जड़भूत अविद्या रहती हे तो उसका फल निकलता है—

''सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा:''

अर्थात् जड़ (मूल) रहने पर उसका विपाक, जाति, आयु और भोग के रूप में हुआ करता है। यही वासनाओं के फल के रूप में प्रकट होता है। उसके बाद आशय, जिसमें कर्मफल पर्यन्त वासनायें जमा रहती हैं वह आशय कहलाता है—

''आशेरते फलपर्यन्तम् इत्याशय:''

जिसमें फल-भोग पर्यन्त वासनायें जमा रहें, उस साधिकार चित्तको आशय कहा गया है। साधिकार चित्त पुन:-पुन: वासनाओं के प्राकट्य का कारण बना करता है। वही आशय है और जिसका सहारा ले करके वासनायें प्रकट होती रहती है, उसे आलम्बन कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियों के विषय ही वासनाओं के प्राकट्य के आलम्बन हैं, जिनके सहारे से वासनायें कार्य किया करती हैं। यदि इन चार बातों का अभाव हो जाय तो वासनाओं का अभाव हो जाना भी स्वाभाविक है। ये चारों बातें वासनाओं को संगृहीत रखा करती है।

वासनाओं का अभाव ही मोक्ष है। भगवान पतञ्जलिदेव ने ''चित्तवृत्ति निरोध'' को ही कैवल्य कहा है और वह यथार्थ भी है। उपरोक्त सूत्र के अन्दर भगवान पतञ्जलिदेव ने वासनाओं के समूलोन्मूलन का ही संकेत किया है, जो योग द्वारा ही साध्य हो सकता है। साधक को चाहिए कि क्लेशों का तन्वीकरण करते हुए शनै:-शनै: गुणों का गुणों में श्रेयस सिद्धि रूप परम लक्ष्य को पा सके।

कर्म के सम्बन्ध में

कर्म के सम्बन्ध में साधारण लोगों की धारणा स्पष्ट न होने के कारण अधिकांश लोगों का विश्वास है कि इस संसार-प्रपञ्च का तथा व्यापक दु:ख जञ्जाल का मूल एकमात्र कर्म है, यह विश्वास निर्मूल नहीं है। तथापि यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि जिस कर्म के प्रभाव से संसार के सुख-दु:ख उत्पन्न होते हैं, वह अज्ञानमूलक कर्म है। अज्ञान अथवा अविद्या ही संसार का मूल कारण है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- इन पाँच क्लेशों में अविद्या ही मूल क्लेश है। अविद्या से अस्मिता अर्थात् अहंभाव का उदय होता है। अस्मिता के उदय के फल से अवस्था के अनुसार चित्त में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं तथा उसके बाद अभिनिवेश अर्थात् मृत्युभय उत्पन्न होता है। अविद्या आदि पांच क्लेश सांसारिक जीवन के मूल स्तम्भस्वरूप हैं।

(कल्याण से साभार)

गुणात्मक धर्मों की त्रिकाल में स्थिति

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

इससे पूर्व अपने लेख में हमने समझाया था कि वासनाओं का हेतु, फल, आश्रय एवं आलम्बन से जकड़े रहने के कारण, इन सबके साथ ही वासनाओं की भी सत्ता है व इन चारों कारणों के न होने से उनका यानी वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार से कारण के बिना कार्य नहीं हुआ करता है, उसी प्रकार वासनाओं की अभिव्यक्ति में हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन ये चार कारण रूप हैं। वृत्ति संस्कार-चक्र इसी प्रकार चला करता है। अपने कारण का आश्रय लेकर कार्यरूप वासनाओं का प्राकट्य होता रहता है, अन्यथा नहीं। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

नासतो विद्यते भावो

नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् जो वस्तु सत्ता में है, उसका अभाव नहीं होता, जो नहीं है उसका कभी भाव नहीं होता अर्थात् जो है हब है ही है व जो नहीं है वह नहीं ही है। इस प्रकार से द्रव्य रूप से रहती हुई वासनाओं का अभाव कैसे होगा? इसी बात को समझाने के लिए भगवान पतंजलि निर्देश करते हैं और त्रिकाल में द्रव्य रूप से स्थित वासनाओं का अस्तित्व समझाते हुए बतलाते हैं—

अतीतानगतं स्वरूपोऽस्त्यध्व भेदाद्धर्माणाम्।

अर्थात् धर्मों का भूत, भविष्य एवं वर्तमान रूप केवल मात्र मार्ग भेद होने से वस्तु सत्ता अतीत अनागत काल में भी विद्यमान रहती ही है। केवल धर्मों के मार्ग भेद होने से विद्यमानता नहीं दीखती। जिस प्रकार से मिट्टी एक द्रव्य है, उसमें पानी मिलाकर एक गोला तैयार किया, उसको अब मिट्टी गोले के रूप में परिवर्तित हो गई वस्तुतः वह मिट्टी ही है। उसके मिट्टीपन में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु मिट्टी का एक नया रूप बन गया, जिसको कहा गया मिट्टी का गोला। उसके बाद में उसी गोले से घड़ा तैयार कर लिया गया तो उसको घड़ा कहेंगे, किन्तु वस्तु सत्ता के रूप में मिट्टी उस मटके के अन्दर भी विद्यमान है ही। केवल मात्र धर्मों का मार्ग-भेद होकर वही मिट्टी गोला बन गई व वही मिट्टी घड़ा बन गई। घड़ा टूटकर ठिक्कर व ठिक्कर के बाद मिट्टी का चूर्ण व चूर्ण के बाद में वही मिट्टी की मिट्टी ही शेष रह जाया करती है।

इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य पढ़िये कि वे वासनाओं की वस्तु-सत्ता के रूप को किस प्रकार से व्यक्त करते हैं। यथा—

भविर्षयद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूत व्यक्तिकमतीतम्, स्वव्यापारोपारूढ़ं वर्तमानम्, त्रयं चैतद्वस्तुजातस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्माद तोतानागत स्वरूपतोऽस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देश्येन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठान न युज्येत सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थ नापूर्वोपजनने। सिद्ध निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेतेन धर्माः प्रत्यविस्थताः। न च यथा वर्तमानम् व्यक्ति विशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति। स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यातीतानागतयोरध्वनोः। एकम्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति।

अर्थात् भविष्य काल में जिसकी स्थूल रूपता होने लगी हो, उसको अनागत रूप कहा जाता है, वह जो अनुभूति में आ चुका है। अतीत कहा जाता है व जो इस समय भोगारूढ़ है, वह वर्तमान रूप है। किसी भी वस्तु के ज्ञान में इन तीनों स्थितियों को जान लेना बहुत ही आवश्यक है— यदि कोई वस्तु भूत, भविष्यत् एवम् वर्तमान तीनों कालों में न हो, तो उसका निर्विषय ज्ञान भी पैदा नहीं हो सकता, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अतीत अनागत काल में भी वस्तु रहती है, क्योंकि भोग भागी या अपवर्ग भागी पुरुष कर्मफल को लक्ष्य में रख कर ही कोई प्रयत्न करता है। यदि भोग और मोक्ष दोनों का अभाव हो, तो कौन किसके लिए प्रयत्न करें। फल की सत्यता ही प्रवृत्ति जनक है, क्योंकि बिना कारण के कार्य भी नहीं होता। अतः सिद्ध निमित्त को कारण बनाकर ही नैमित्तिक को प्राप्त किया जाता है, बिना कारण के प्राप्त नहीं किया जा सकता। चित्त

धर्मी है, वह अपने धर्म-स्वभाव वाला है। अत: उसके भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान भेद से ही मार्ग हैं। जिनमें धर्मी चित्त स्थित है, क्योंकि धर्मी कहलाता ही वह है जो शान्त उदित व व्यपदेशावस्था में धर्म का अनुपतन करें। अर्थात् उनमें स्थित रहे, इस बात को उदाहरण के साथ इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जिस प्रकार वर्तमानकाल में धर्मी प्राप्त हुआ द्रव्य रूप से रहता है, उसी प्रकार अतीत-अनागत में नहीं, अर्थात् अतीत-अनागत में उसकी सत्ता रहते हुए भी वर्तमान की तरह स्पष्ट नहीं है। जैसे अनागत भविष्य प्रकट होने वाला है इसी कारण उसको अनागत कहा गया और जो अनुभव में आ चुका है, वह अतीत है व वर्तमान काल में जो भोगारूढ़ है वही स्पष्ट है। अतीत अनागत में इतनी स्पष्टता नहीं होती। अत: एक रास्ते में दोनों दोनों मार्गों से भी धर्म-भेद धर्मी में स्थित रहते हैं। काल के तीन भेद ही भाव की सत्यता को बतलाते हैं। यह सभी धर्मी के धर्म गुणात्मक हैं–

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मान:

अर्थात् वे धर्मी चित्त के धर्म चाहे वर्तमान रूप से व्यक्त हों या अतीत अनागत रूप से सूक्ष्म क्यों न हों, किन्तु हैं गुणात्मक रूप से सूक्ष्म क्यों न हों, किन्तु हैं गुणात्मक ही। यह सभी विस्तार गुणात्मक ही है। गुण विस्तार को समझा नहीं जा सकता है। इस विषय में आचार्यों का उपदेश है—

गुणानोपरमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति,

यत् दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्।

अर्थात् गुणों का ठीक रूप दृष्टिगत नहीं हो पाता। जो दृष्टिगत होता है, वह माया मात्र है। प्रकृति के विकृति रूप कार्य मात्र हैं, बाद में नहीं रहेंगे। यह गुणात्मक धर्म इन्द्रियों व इन्द्रियों के ज्ञान-रूप में बँटे से तो दीखते हैं, किन्तु वस्तुत: एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न परिणामों में विभाजित-सी दीखती है। विभाजित दिखाई देना केवल गुण-विस्तार है। वस्तु-सत्ता एक ही रहती है, उसमे कोई परिवर्तन नहीं आता। परिणामान्तरो में भेद दिखलाई देता है। धर्मी चित्त ही प्रधान वस्तु है, उसी में अनन्त कालीन वासना-चक्र रहा करता हे व अपने-अपने कारणों को पाकर उसकी अभिव्यक्ति हुआ करती है। वस्तुत: अतीत अनागत कालों में भी वस्तु-सत्ता एक ही रहती है। केवल मात्र चित्त-भेद से अनेक मार्ग भासित होते रहते हैं। इस विषय में विशेषस्पष्टीकरण हम किसी आगामी अंक में करने का प्रयत्न करेंगे। इन सभी बातों की यथार्थ अनुभूति का एक मात्र साधन योग है, जिसमें योगी साधक यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

जीवन-लक्ष्य प्राप्ति का साधन योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(यह लेख श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के उस प्रवचन का महत्वपूर्ण अंश है जो महाप्रभु जी की गत जयन्ती के त्रिदिवसीय समारोह के दूसरे दिन मध्याह्नोत्तर कार्यक्रम के अन्तर्गत दिया गया था।)

—सं. सम्पादक

मानव अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति केवल योग-मार्ग का अनुसरण करके ही कर सकता है। योग ही परम पुरुषार्थ मुक्ति का प्रदाता है और योग ही वह अमृत है जिसका पान करके मनुष्य न केवल मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है बल्कि वह सर्व विधि ऐश्वर्य्यशाली भी बन सकता है। योगी का जीवन ही ऐसा जीवन होता है जिसमें सर्व समर्थता और सर्व सम्पन्नता समाहित रहती है। 'अदीना स्याम शरद: शतं' और स्याम पतयी रमीणाम' के मंत्र योगी के जीवन में ही मूर्त रूप लेते हैं। ऋषि-सिद्ध से सम्पन्न होकर योगी स्वयं का कल्याण करने के साथ-साथ अन्य दु:खी और पाप-ताप पीड़ित प्राणियों का कल्याण करने की भी क्षमता वाला होता है। दु:ख और आश्चर्य की बात यह है इहलोक और परलोक दोनों को ही सुधारने और सद्गति प्रदान करने वाले इस मार्ग को अपनाकर उस पर चलने वाले साधकों की संख्या अधिक नहीं है, यही कारण है कि आजका मानवसमाज दुखी है, अशान्ति, अनाचार और अत्याचार की वेदनाओं से पीड़ित और प्रताड़ित होकर कराह रहा है। इस दयनीय अवस्था से त्राण पाने का मार्ग केवल एक है और यह है योगारूढ़ होकर जीवन को यम-नियमों की मर्यादाओं के अनुसार ढालकर उसे सर्व विधि पावन बनाना। जो ऐसा कर पाते हैं वे साधक यशस्वी बनकर जीवन को सफल और सार्थक कर जाते हैं। प्रतिकूल इसके जो यम-नियमों का पालन न करके स्वेच्छाओं और वासनाओं के अधीन रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे भले ही बाबू शब्द की उपाधि से विभूषित रहें किन्तु वास्तव में होते हैं वे गंदगी के आगार ही। इसीलिए वे बा बू यानी गन्दगी या बदबू के ढेर ही कहलाने के अधिकारी होते हैं। इन बाबुओं का जीवन बिल्कुल दिखावटी कृत्रिम जीवन होता है। आहार-बिहार जागरण और निद्रा उठने-बैठने किसी भी चर्या में इनका कोई नहीं होता। चाहे जब चाहे जितना खा लेना, चाहे जब सोना और जब मन चाहे तब जागना ऐसा स्वेच्छाचारी होता है आज के इन बहु-संख्यक बाबुओं का जीवन! योग-साधना के पथ में ऐसे अनियमित जीवन को त्याग कर उसे संयमित और नियमित कर लेना साधक का प्राथमिक और आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए। नियमानुवर्तित्ता का बिना पालन किये साधक को इस पथ में कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

श्री गुरुदेव जी ने आगे अपने बोधबर्द्धक प्रवचन में अपने ही आश्रम के दो साधक शिष्यों के उदाहरण देते हुए विस्तार से बताया कि किस प्रकार गुरुदेव के निर्देशन और नियमानुवर्तिता का पालन करते हुए इन्होंने अल्पकाल में ही उच्चतम स्थिति प्राप्त कर ली थी।

गुरुदेव जी ने बताया कि मेरे आश्रम के इन दो शिष्यों में एक का नाम था ब्रह्मचारी अशोक। ब्रह्मचारी अशोक की महान् आत्मा हाल ही में इस लोक से प्रयाण कर परलोक की अनुगामिनी बनी है। उसका रहना इस दुनिया में बहुत ही अल्प अवधि का रहा। आश्रम के सम्पर्क में आकर इसने योग-दीक्षा लेने के पश्चात् तप, संयम और साधना को अपने जीवन का आधार बनाया। श्रद्धापूर्वक गुरुदेव की आज्ञा-पालन को भी क्रियात्मक रूप देना उसकी चर्या का विशेष अङ्ग था। प्रशासन में एक ऊँचा पद पाकर भी वह बहुत सादा और सात्विक जीवन व्यतीत करने का आदी था, पद का अभिमान उसमें बिल्कुल भी न था! यदि उसे निर्देश दिया गया कि अल्पाहारी बनो, तो वह अल्पाहार पर निर्भर रहता, निद्राजित बनने को कहा गया, तो वह वैसा ही बनने का अभ्यास करने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि उसको जो आज्ञा दी गई, तदनुकूल ही उसका आचरण होने लगा- अपनी इस संयमशीलता और नियमानुवर्तिता के कारण उसने वह ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली, जिसके आधार पर उसे अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया और इस पूर्वाभास के फलस्वरूप उसने अपने कुटुम्बीजनों को अपनी मृत्यु का निश्चित और निर्धारित समय तक बता दिया था। साथ ही उसने अपना प्राण-विसर्जन भी योगियों की विधि अनुसार ही किया।

दूसरा साधक, जो कुछ वर्ष इस आश्रम में रहा था और बाद में जिसने नर्मदा की ओर जाकर निरंतर यौगिक साधना की थीं। यह परकाया प्रवेश की सिद्धि को पा गया था और दो बार उसने अपने भौतिक शरीर को प्राणहीन बनाकर अन्य की काया में प्रवेश किया और बाद में अपनी

सुरक्षित रखवाली हुई काया में पुन: लौटकर उसे प्राणवान बनाने में सफल हुआ था। ये हैं योग-साधना के कुछ जीवित उदाहरण, जिनसे आज के योग-साधक और योग-प्रेमियों को समुचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। नियमानुवर्तिता योग की पहली शर्त हैं। इसका सोते-जागते, बैठते-उठते आहार-विहार आदि सभी अवसरों पर पालन होना चाहिए। श्रीमद्भगवतद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुख से कहा है—

युक्ताहार विहारस्य,

युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वप्नावबोधस्य,

योगो भवति दु:खहा।।

अर्थात् दु:खों का नाश करने वाला योग तथा योग आहार-विहार करने वाले का कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य जागने तथा सोने वाले का ही सिद्ध होता है।

और इससे पूर्व के श्लोक में उन्होंने अर्जुन से यह भी स्पष्टतया कहा है कि—

नात्पश्नतस्तु योगोऽस्ति,

न चैकान्त मनश्नत:।

न चाति स्वप्नशीलस्य,

जाग्रती नैव चार्जुन:।।

अर्थात् हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न बहुत शपन करने के स्वभाव वाले का, न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

अभिप्राय यही है कि जो प्रत्येक दिशा में अपने जीवन को नियमित कर लेते हैं वे ही योग-पथ पर चल सकने में सफलता प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। साधको के आहार-विहार की चर्चा करते हुए श्री गुरुदेव जी ने कहा कि केवल रसना के स्वाद के लिए चाहे जो चाहे जब खाना अन्नदेव का अनादर करना तो होता ही है, साथ ही यह आदत शरीर के रोग-शोक का कारण भी बन जाती है। उपनिषदों में अन्न की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणों वा अन्नम्। शरीर मन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठाते। शरीरे प्राण: प्रतिष्ठित:।

अर्थात् अन्न की निन्दा न करो। वह व्रत है, प्राण है, अन्न है और शरीर अन्न का भोक्ता है और शरीर प्राण के आधार पर प्रतिष्ठित हो रहा है।

ऐसे जीवन-रक्षक अन्न का उपयोग उचित रूपेण न करना ही अन्न की निन्दा करना है। अत: आहार पर संयम रखना नियत समय पर नियत मात्रा में उसका सेवन करना ही युक्त आहार-विहार को ठीक-ठीक परिभाषा हो सकती है।

अन्त में श्री गुरुदेव जी ने अपने प्राप्त: स्मरणीय गुरुदेव महाप्रभुजी का स्मरण करते हुए उनके प्रति श्रद्धा, तथा आभार प्रकअ करते हुए कहा कि 'जीवन-तत्व साधन' के रूप में यौगिक व्यायामों की जो अनुपम और अभूतपूर्व प्रणाली की दैन वे दे गये हैं योग-प्रेमियों को उसका अभ्यास नित्य ही नियमित रूप से करना चाहिए। इससे उनके शरीर स्वस्थ, सुदृढ़ और शक्ति-सम्पन्न रहेंगे और स्वस्थ, तथा सबल, काय-सम्पत्ति को पाकर ही वे उस योग-शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, जो उन्हें जीवन के एकमात्र लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करा सकती हैं।

परिणाम की एकता से
वस्तु-तत्व की स्थिति

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने अपने इससे पहले लेख में 'त्रिगुणों की गुणात्मक धर्म स्थिति तीनों कालों में कायम रहती है' इस बात को समझाने का प्रयत्न किया था। वे गुण व्यक्त रूप से रहें, चाहे अव्यक्त रूप से रहें- अतीत, अनागत एवं वर्तमान कालों में कायम रहा करते हैं। भगवान् पतञ्जलि देव ने अपने योग दर्शन के साधनपाद के १६ वें सूत्र में लिङ्ग अलिङ्ग भेद से षोडश परिणाम बतलाये हैं। वह सकल गुण विस्तार है। सर्वसाधारण के ज्ञान के लिए वह गुण परिणाम हम यहाँ अंकित कर देना चाहते हैं।

विशेषाविशेष लिङ्ग मात्रा लिङ्गानि गुण पर्वाणि।

इस पर पढ़िये व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपर्श-रूपसगन्ध तन्मात्राविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षु-जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि वाक्यणिपादपायुवस्थाः कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मन सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्या विशेषस्य विशेषगुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः षड़अविशेषाः। षड् अविशेषाः। तद्यथा-शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गंधतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुः पंचलक्षणोः शब्दादयः पंचाविशेषाः, षष्ठश्चस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड्विशेषपरिणामा। यत्तत्परम-विशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्त्वत्वं तस्मिनेते सत्तामाशे महत्या-त्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति।

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि जल और भूमि ये पंच महाभूत कहलाते हैं इनमें से शब्द तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूप तन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र इन पांच अविशेषता के आकाश वायु आदि विशेष परिणाम कहलाते हैं। और इन सबके मिलकर के श्रोत्र, चमड़ी, कक्ष, घ्राणि, बुद्धि और इन्द्रियों, वाणी, हाथ, पैर, गुदा आदि कर्मेन्द्रिय एवं १२ वाँ मन ये सब आकाश, वायु आदि पंच महाभूतों के एवं शब्द, स्पर्श, रूप तन्मात्र आदि अविशेषों के विशेष कार्य परिणाम हैं। इनके मूत्र में अहङ्कार नाम का एक अविशेष है, जिसका ये षोड्ष प्रकार का विशेष परिणाम है। जैसे शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध तन्मात्र ये १,२,३,४ रूप से पांच प्रकार के हो जाते हैं। इनके मूल में अस्मिता नामक अहङ्कार रहता है और उसका भी मूलमात्र बुद्धि ही है जो लिङ्गमात्र महत्तत्व है। उसको पाकर इनके विशेष-विशेष परिणाम होते चले जाते हैं, किन्तु सत्तामात्र से इनमें कोई परिवर्तन नहीं आता। यह गुण, विस्तार, व्यक्त व अव्यक्त हो करके फैला रहता है। जैसा कि हमने इससे पहले लेख में बतलाया था—

गुणानां परमं रूपं, न दृष्टि पथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपतं प्राप्तं, तन्मायेवसुतुच्छकम्।।

अर्थात् गुणों का जो रूप हमारी दृष्टि में आ जाता है, वह तुच्छमात्र माया ही है। उनका मूलरूप दृष्टि में आता ही नहीं, किन्तु एक बात और खास है, इधर-उधर के नाना-परिणाम हो जाने के बाद भी गुण वस्तु-तत्व में एक ही रहते हैं और वह एक ही कहे भी जाते हैं। जैसा कि भगवान पतंजलिदेव ने कैवल्य पाद के १४ वें सूत्र में अभिव्यक्त किया है। सूत्र यह है—

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्।

प्रख्याक्रियास्थितिशालानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं ग्राह्यात्मकानां शब्दभावे-नैकः परिणामः शब्दो विषय इति शब्दादीनां मूर्तिसमान-जातीयानामेकः परिणाम पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथ्वी गोर्वृक्षः पर्व इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेक-विकारारम्भः समाधेयः। नास्त्यर्थो विज्ञान विसहचरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपह्नु वते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्पप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति य आहुस्तं तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानवलेन वस्तुस्वरूपभुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः।

अर्थात् सतोगुण, रजोगुण, रजोगुण स्वभाव वाले ग्रहणात्मक वर्ण्ण-भाव से एक परिणाम कर्णेन्द्रिय हुआ। ग्राह्यात्मक भाव से, शब्द भाव से एक परिणाम हुआ, क्योंकि शब्द आकाश का विषय है और शताब्दियों के साथ आकाशादि जो मूर्ति हैं, उनका परिणाम पृथ्वी, परमाणु, तन्मात्रायें ये उनका एक-एक परिणाम और उसके साथ पृथ्वी से गौ, वृक्ष, पर्वत और पश्च महाभूतों के कार्यरूप स्नेह, ऊष्णता आदि धर्मों को ग्रहण करके ओर विविध विस्तार बनता चला जाता है। ज्ञान अर्थ का आश्रय नहीं, अपितु अर्थ ज्ञान का आश्रय है। इस प्रकार से गुण-विस्तार अधिकाधिक बढ़ता चला जाता है, किन्तु इस प्रकार गुण-विस्तार हो जाने के बाद भी वस्तु तत्व में एकत्व से दिखाया जाता है।

जिस प्रकार किसी मनुष्य के एक शरीर के अन्दर महत्तत्व, बुद्धिसत्व, अस्मिता और उसके अविशेष तन्मात्रायें आदि और उसके स्थूल परिणाम आकाश, वायु आदि सभी रहते हैं। क्योंकि इन सबका एक शरीर में समन्वय है, इसलिए वस्तु-तत्व से एक ही माना जाता है। ज्यों-ज्यों इन गुणों का विभाजन बढ़ता जाता है, वह पथ भेद से भिन्न-भिन्न होते चले जाते हैं। योगी लोग ही अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि के द्वारा इस गुण-विस्तार को समझ पाते हैं। इससे आगे के लेख में वस्तु साम्य होने पर भी चित्तों को भेद से मार्ग किस प्रकार से विभाजित हो जाते हैं, समझाने का प्रयत्न करेंगे।

वस्तुसत्ता की स्थिति

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने अपने इससे पहले लेख में—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्त: पन्था:

१५/४

इस सूत्र का अर्थ समझाते हुए यह बातलाया था कि वस्तु तत्व के एक होने पर भी विभिन्न चित्तों के भेद से वह अनेक अनुभव में आने लगती है। जैसे एक लड़की अपने माँ-बाप की पुत्री है, वे लोग उसको पुत्री की दृष्टि से देखते हैं वे लोग यह जानते हैं कि यह हमारी बेटी है या सुखी रहे, फले-फूले एवं उन्नति करें। इसके अतिरिक्त दूसरे उसके भाई हैं वह समझाते हैं कि यह हमारी बहिन है हम इसके भाई हैं, संसार में सुखी रहें, हम इसकी सेवा करें। हम इसका मान करेंगे। फिर उसकी शादी हो जाती है उसका पति समझता है कि यह मेरी पत्नी है और लड़की समझती है यह मेरा पति है, सन्तान हो जाने के बाद सन्तान कहती है कि यह मेरी माँ है इसी प्रकार से कोई कहता है ताई है, कोई कहता है चाची है, कोई कहता है माँ है, वस्तुत: वस्तु साम्य में वह वस्तु सत्ता एक ही है किन्तु चित्तों की कल्पनायें विभिन्न हैं, इसीलिए मार्ग भेद हैं। कोई चित्त कहता है मेरी माँ है, कोई चित्त कहता है मेरी स्त्री है, कोई चित्त कहता है मेरी बेटी हैं, इसी प्रकार से चित्त तन्त्र के अधीन विभिन्न मार्ग हैं। वस्तुसत्ता में कोई भेद नहीं है, वह एक ही है। अब इसके बाद एक दूसरा प्रश्न पैदा होता है। प्रश्न यह है कि एक चित्त एक समय में एक वस्तु का चिन्तन करता है— दूसरी का नहीं किन्तु विचारणीय बात एक है और वह यह कि एक चित्त जब किसी दूसरी वस्तु का चिन्तन करेगा तब उस चित्त की साधना उस वस्तु में होगी; वह चित्त उसी वस्तु को अपना लक्ष्य बनायेगा। उसके बाद पूर्ण स्मरण की हुई वस्तु की सत्ता क्या होगी? इस आगामी सूत्र न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदादि स्यात्। १६/४

इस पर पढ़िए व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

एकचित्त तन्त्रं चेत वस्तु स्यात् तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्याविषयीभूतम प्रमाणकमगृहीत स्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् सम्बन्ध्यमाने च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत। ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति एवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत, तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थ: सर्व पुरुषासाधारण: स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्त्तन्ते, तयो: सम्बन्धादुपलब्धि: पुरुषस्य भोग इति।

अर्थात् कोई भी वस्तु सत्ता एक चित्त के अधीन नहीं है क्योंकि जब वह चित्त उस वस्तु को विषय नहीं करता है या चित्त विरुद्ध हो जाता है तब उस वस्तु का अभाव हो जाना चाहिए। किन्तु अभाव नहीं होता, वस्तु सत्ता बनी रहती है— थोड़ी देर के लिए इस बात को यूँ समझ लीजिए। सामने खड़ा हुआ एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मुख को देखता है। उसके पृष्ठ भाग को नहीं देखता तो इसका अर्थ यह नहीं क्योंकि देखने वाले के चित्त ने उसके पृष्ठ भाग को नहीं देखा— इसलिए पृष्ठ भाग का अभाव हो गया, यह बात नहीं वस्तुत: पृष्ठ भाग का अभाव हो गया, यह बात नहीं वस्तुत: पृष्ठ भाग तो है ही किन्तु उस समय में वह उस चित्त का विषय नहीं है अत: वह पृष्ठ भाग को नहीं जानता। जिस समय वह व्यक्ति दीखने वाले सामने के व्यक्ति के पीठ के भाग को देखेगा तो उस समय उसके उदर-छाती आदि का अभाव नहीं हो गया किन्तु बात केवल मात्र एक ही है और वह यह कि चित्त शरीर के जिस भाग को विषय करता है वह दीखती है और जिस भाग को अपना लक्ष्य नहीं बनाता वह नहीं दीखता। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए भगवान पतञ्जलिदेव अपने योग दर्शन के कैव्य पाद के सत्रहवें सूत्र में इस प्रकार समझते हैं—

तदुपरागापेयित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् 17/4

पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अय: सधर्मकं चित्त मभिसम्बन्ध्योपरञ्जयन्ति। येन च विषयेणेपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततऽन्य: पुरज्ञात:, वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम्।

अर्थात् चित्त जिस वस्तु में राग करता है और जिस वस्तु से राग को हटाता है उसी कारण से वस्तु ज्ञाताज्ञात होती है। रागान्वित वस्तु दिखाई देती है और जिस वस्तु में राग का अभाव होता है वह नहीं दिखाई देती हैं जिस प्रकार से चित्त के विषयों की स्थिति और चित्त की स्थिति इस प्रकार से है जिस प्रकार से चुम्बक और लोहे की स्थिति हुआ करती है। लोहा ज्यों ही चुम्बक के सामने जाता है चुम्बक उसको खींच लेता है और ज्योंही चुम्बक से लोहे को दूर कर लिया जाता है तो लोहा ज्यों का त्यों तो रहता ही है किन्तु चुम्बक का आकर्षण उस पर नहीं रहता यही बात चित्त और वस्तु के ज्ञाताज्ञात में रहती है। चित्त जिस वस्तु मैं रागान्वित होता है वह उसको जान लेता है और जिस वस्तु में उपेक्षित रहता है वह उस वस्तु को नहीं जान पाता। यही वस्तु सत्ता की यथार्थ ज्ञाताज्ञात स्थिति है। इससे सिद्ध हुआ कि चित्त परिणामी है। वह ज्यों-ज्यों जिस जिस वस्तु को देखता है त्यों-त्यों उसमें परिणाम होते रहते हैं चित्त किसी मनुष्य को देखता है उसमें मनुष्य रूप परिणाम हो जाता है। वृक्ष को देखता है वृक्ष रूप परिणाम हो जाता है इससे चित्त परिणामी है। इसी बात का ज्ञान हुआ न कि वस्तु सत्ता के अभाव का।

आहार शुद्धि

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यह निश्चित् सिद्धान्त की चीज हैं—

''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि

सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।''

अर्थात् आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि और सतोगुण के शुद्ध होने पर निश्चित ही मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है। इसलिए ध्रुवास्मृति के कायम रखने में अन्न एक बहुत ही विशेष सहायक वस्तु है। हमारी शास्त्रीय परिभाषा है—

'यथा अन्नं तथा मनः।'

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है उसी प्रकार का उसका मन बन जाया करता है। यही कारण है कि आज इस कलयुग के समय में ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारियों को अपने काम कराने के लिए लोग बड़ी-बड़ी डालियाँ पेश करते हैं और अच्छे-अच्छे भोजन कराते हैं। यही कारण होता है कि वे लोग उनके आथित्य को पाकर प्रसन्न हो जाते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। महाभारत के उद्योग पर्व में नकुल सहदेव के मामा महाराजा शल्य अपने सम्बन्धित्व के नाते पाण्डवों के मामा लगते थे और उस लड़ाई में उनको पाण्डवों की ही मदद करनी चाहिये थी और महाराजा शल्य आये भी पाण्डवों की ही मदद करने को थे किन्तु रास्ते में ही धोखा देकर दुर्योधन ने उनका इतना ऊँचा सत्कार किया कि वह कह उठे कि—

इष्टोऽर्थो गुह्यतामिति।।17।।

अर्थात् हे दुर्योधन तुम अपना अभीप्सित वर मांगों। महाराजा शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपना सेनापति होने का ही वरदान मांगा व उनके भारी सैन्य बल को अपनी ओर कर लिया। यह था **'यथा अन्न तथा मनः'** का प्रभाव। आज कल के घोर कलि काल में भी इस प्रकार की अनेकानेक घटनायें घटित होती रहती हैं। यही कारण है कि हमारे सनातन धर्म में, विवाहों में, शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सहभोज की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में प्रचलित है। यह सहभोज एक दूसरे के मनों को इकट्ठा कर देता है। प्रायः सनातन धर्म के सिद्धान्तों के मानने वाले तपस्वियों का, ब्राह्मणों का निमन्त्रण अपनी अत्यन्त विनम्रता पूर्वक अपने घरों में किया करते हैं और यह चाहा भी करते हैं कि भोजनोपरान्त वह लोग उनको अपना अभीप्सित वरदान देकर जायें। और जैसी जिसकी समार्थ्य होती है वे लोग वैसा आशीर्वाद देते भी हैं। जैसा मनुष्य अन्न सेवन करता है वैसे अन्न का प्रभाव उसके मन पर अवश्य तत्काल पड़ता है। इस विषय में मुझे अपबीती एक छोटी सी घटना याद आती है जिसका यहाँ उल्लेख करा देना बहुत उचित समझता हूँ।

एक बार परम करुणार्णव मेरे गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ऋषिकेश के श्री योग साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास एक जेल का दरोगा भेंट निमित्त कुछ मिठाई लिए हुए उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभु जी ने उससे रखवा तो ली किन्तु बांटने व खाने के लिए संकेत से सबको इन्कार कर दिया। किन्तु फिर भी किसी अपरचित भाई ने वह मिठाई बांट दी, और प्रसाद रूप समझ कर सभी साधकों ने खा ली। उसका परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये व तीन चार रोज के लिए अपने नैतिक अभ्यास से बिल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी बहन भाइयों ने प्रार्थना करते हुए इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि इन लोगों की दृष्टि गीध जैसी हुआ करती है। अतः इसकी कमाई का अन्न तुम सबको नहीं खाना चाहिए था। इसलिए सुश्रुत में आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः, कह कर मनुष्य के जीवन में आहार शुदिध एक आवश्यकीय कर्त्तव्य है इसका निर्देश किया है जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार आहारों का वर्णन किया है और वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को, रज प्रधान प्राणियों को, तमोगुण प्रधान को अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं—

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार—

आयुः सत्त्वबलारोग्य,

सुख प्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या,

आहाराः सात्त्विक प्रियाः।।

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाला सत्त्व वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले आरोग्यता देने वाले सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले चिकने, जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है, जो हृदय को पुष्टि करने वाले हैं अर्थात् जो स्वभाव से ही रूचिकर है ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और यह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन

आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने ऊपर के श्लोक में किया है। वे सारे के सारे गुण गौघृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ गेहूँ, चना, जौ या रसीले सेव, सन्तरा, अंजीर और मौसमी आदि फल घीया, बथुआ, तोरई चौलाई, पालक, मैथी आदि पत्ती के साग और पवित्र कन्दमूलों का आहार ये सब सात्त्विक आहार हैं, इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान को स्वभावत: यही गुण प्यारे भी लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्ण रूक्ष विदाहिन:।

आहारा राजसष्येष्टा दुख शोकामय प्रदा:।।

अर्थात् कड़वे करेले आदि, खट्टे आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले अत्यन्त गरम जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रूखे व खुश्क तेज मिर्चों के पकौड़े आदि जो इसी प्रकार के शरीर में दरद देने वाले गर्मी पैदा करने वाले दु:ख और चिन्ता को पैदा करने वाले इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं। जो रजोगुण प्रधान व्यक्ति हैं उन्हें ये सब भोजन प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों के आहार—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तोमस प्रियम्।।

अर्थात् रस रहित दुर्गन्ध युक्त, वासी उच्छिष्ट एवं रस रहित भोजन तमोगुण का बढ़ाने वाला है। और तामस व्यक्तियों को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है और गत रस हो जाते हैं ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जितने जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिए सात्त्विक बन जाना बहुत आवश्यक है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ-साथ एक बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध, घी, फल, कन्दमूल साग सब्जी ये सब भोजन सात्त्विक हैं किन्तु कोई पाप कमाई करने वाला ऐसा आहार खिलाता है, तो उनमें उसके मन का असर रहा करता है। सनते है ननकाना साहब में एक बार गुरु नानक देव के सामने एक नवाब की ओर से घृत पकवान सुमधुर भोजन आया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान लेकर के आया। गुरु नानकदेव ने वह रोटियां स्वीकार कर लीं किन्तु वह भोजन स्वीकार नहीं किया। लोगों ने उनसे हठ की कि क्या कारण इतने पवित्र घी दूध के भोजन को आपने त्याग दिया और सूखे जौ की रोटियों को आपने स्वीकार कर लिया। गुरु नानकदेव ने जवाब दिया इन सूखी रोटियों में दूध है और इस घृत के भोजन में खून है तमोगुण है। इसलिए ऐसा तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं था। यह कह कर उन्होंने पूड़ी उठाकर निचोड़ीं। रोटियों से दूध व पूड़ियों से खून गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिए मनुष्य को चाहिए भोजन सात्त्विक करे वह नेक कमाई का हो तो सोने पर सुहागा होगा। इसके अतिरिक्त भगवान ने गीता में आज्ञा दी है—

युक्ताहार विहारस्य युक्त
चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दु:खहा।।

अर्थात् जिसका आहार-विहार युक्त है। जिनका सोना व उठाना युक्त है और जिसकी हर चेष्टा नियमित होती है उनके लिए योग दु:खों का नाश करने वाला है। इसलिए सात्विकी आहार के साथ-साथ युक्ताहार विहार के नियम का पालन करना आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबाकर करना चाहिए। दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए। दूध को थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए इससे साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ पदार्थ पेट में पहुंचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करे, आधा जल से और चतुर्थ भाग वायु के लिए खाली रहने दें, इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिए पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक नौजवान जो शीर्षासन आदि करता है वह अपने आहार को इतना संयमित कर दे कि सहन शक्ति से बाहर हो इसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए न ही उपवास करना चाहिए। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिए है जो हर समय स्वध्यायशील है और समाहित चित्त है नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौजवानों के लिए उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

प्रभु उपासना से लाभ

जिस प्रकार वायु अग्नि संयोग में हलका होकर ऊपर की ओर चला जाता है उसी तरह जीवात्मा परमात्मा की उपासना से पाप के बोझ से हल्का होकर वैराग्य द्वारा मुक्त हो जाता है और उसको किंचत् भी दु:ख नहीं रहता और आनन्दयुक्त परमात्मा के प्रकाश से अपने आपको प्रकाशित देखता है। जैसे वायु अग्नि के संयोग से उष्ण और शीघ्र चलने वाला हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा की उपासना से ज्ञानी और बुद्धिमान हो जाता है। पहले जिस बात को वह कुछ भी नहीं समझ सकता था अब बहुत जल्दी समझ लेता है। योगी जो दिन-रात परमात्मा की उपासना करते हैं जिस-जिस वस्तु को जानना चाहता है, जान जाते हैं।

— स्वामी दर्शनानन्द

पुरुष का अपरिणामित्व

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने अपने पहिले लेखों में चित्त व चित्त को वृत्तियों का परिणमित्वा भली प्रकार से समझा कर लिख दिया है, आशा है पाठकगण भली प्रकार समझ गये होंगे। चित्त और चित्त की वृत्तियाँ एकतन्त्रवाली भी नहीं है क्योंकि चित्त जिस–जिस वस्तु को विषय करता है उसी उसमें बदल जाता है अर्थात् उसी के परिणाम वाला बन जाता है, चित्त जब भी किसी बाहर के विषय को देखता है तो वह उस काल में उसका ज्ञाता है वह जब उसको नहीं देखता अर्थात् अपनी वृत्तियों को वहां से हटा लेता है तबही वह वस्तु उस चित्त की अज्ञात हो जाती है। यही कारण है कि कभी वह बाहर के विषय को जानता है कभी नहीं जानता। अत: हमारा चित्त जानने व न जानने दोनों स्थितियों में बदलता रहता है अत: चित्त का परिणामित्व स्वत: ही सिद्ध है किन्तु चित्त के समान पुरुष में कोई परिणाम नहीं होता। वह अपने चित्त को भली प्रकार जानता है यद्यपि चित्त जड़ है पुरुष सदा सर्वदा चेतन है चित्त के समान उसकी चेतनता में कभी भी कोई परिणाम नहीं होता वह सदा सर्वदा चेतन है चित्त के समान उसकी चेतनता में कभी भी कोई परिणाम नहीं होता वह सदा एक रस व एक स्थिति में ही रहने वाला है, जड़ चित्त जब जब भी अपने स्वामी पुरुष के सामने होगा तभी उसमें चेतना आजायगी व जब चित्त का सम्बन्ध टूट जायेगा तब वह ज्यों का त्यों जड़ ही हैं, पुरुष अपने विषयीभूत चित्त को भली प्रकार सदाही जानता है, चित्त की तरह उसकी अज्ञेयता नहीं है। यही पुरुष के अपरिणामित्व का स्व प्रमाण है जिस प्रकार अग्नि लोहे में प्रवेश करके लोहे को भी प्रकाशमान कर देती है इसी प्रकार आत्मिक तेज से ही चित्त भी प्रकाशमान् दिखाई देता है। वस्तु सत्ता में वह स्वयं प्रकाशशील नहीं है क्योंकि वह दृश्य है भगवान पतञ्जलिदेव इसको प्रमाणित करते हैं– न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् अर्थात् चित्त स्वप्रकाश नहीं है क्योंकि वह दृश्य है जिस प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियों व शब्दादि उनके विषय स्वयं ही अपनें आपको नहीं जानते। कोई दूसरी सत्ता ही इनको अपना ज्ञान कराती है, इसी प्रकार चित्त भी स्वभास नहीं है प्रत्युत पुरुष के द्वारा प्रकाश्य है अत: इन्हीं सब कारणों से चित्त परिणामी व अपने स्वामी पुरुष का दृश्यत्वेन स्व है पुरुष जहाँ–जहाँ अपना प्रकाश डालता है वहीं–वहीं वस्तु प्रकाशित हो जाती है। अत: चित्त व उसकी वृत्तियाँ स्वामी दृष्टा की दृश्यत्वेन स्व है, दृश्य में परिणाम होते रहते हैं किन्तु दृष्टा पुरुष सदा अपरिणामी व स्वयं प्रकाशमान् है।

वैराग्य साधना का अमर उपाय

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वैसे तो वैराग्य साधन के लिए हमारे शास्त्रों में अनेकानेक उपाय वर्णित हैं किन्तु वह प्राय: साधकों के लिए विफल रहते हैं। उसका कारण मात्र यह है कि अधिकांश में सभी उपदेष्टा मनोनियन्त्रण का उपदेश दिया करते हैं। नियन्त्रण करना ठीक है किन्तु कभी–कभी इस नियन्त्रण का ऐसा परिणाम निकलता है कि इन्द्रियों का वेग बलवान हो जाता है और वह नियन्त्रण की मर्यादा को तोड़ करके अपनी वासना के लक्षीभूत विषयों में वह निकलता है। इस बात को स्वयं जगदात्मा श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है—

यततो ह्यपि कौन्तेय,
पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाधीनि,
हरन्ति प्रसभं मन:।

अर्थात् विद्वान लोग इन्द्रियों के नियन्त्रण का प्रयत्न करते रहते हैं फिर भी इन्द्रियों का वेग इतना बलवान है कि वह बहुत जल्दी मन को हर लेता है। इस बात की इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार तीव्र वेग वाली नदी के जल को बांध लगाकर किसी जलाशय में रोक लेते हैं तो वह जल रूक तो जाता है और उस जलाशय के अन्दर इकट्ठा होता रहता है किन्तु जब वह जलाशय जल से परिपूरित हो जाता है और जल के वेग से कदाचित् वह बांधा हुआ बांध टूट जाय तो उस जल को रोकने की ताकत किसी में नहीं होती। टूटा हुआ वह बांध हजारों गांवों और शहरों को नष्ट करता हुआ समुद्र की ओर भाग निकलता है। समुद्र में पहुँच करके ही वह विलय हो पाता है। इससे अच्छा उपाय यही था कि उस जल को इतने बड़े बाँध से रोकने की चेष्टा नहीं की जाती प्रत्युत जहाँ जहाँ जिन क्षेत्रों में जल की भारी आवश्यकता थी उन–उन क्षेत्रों में उचित संविधान के साथ बांट दिया जाता तो उस जल का वेग शान्त जो जाता और कृषि आदि कार्यों में भारी लाभ होता। इसी प्रकार से इन्द्रियों के वेग को बिना लक्ष्य के किसी प्रकार मनुष्य रोक दे तो जब तक वह वेग रूका रहेगा ठीक है, कदाचित् वह नियन्त्रण की मर्यादाओं को तोड़ कर वह निकला तो वह इतना बह जायेगा कि उस पर फिर नियन्त्रण करना काबू से बाहर हो जायेगा। इसलिए योगाभ्यासी को चाहिए कि वह अपने अभ्यास बल से उस प्रवाह को अन्तर भूमिकाओं में परिवर्तित करता रहे। जिससे इन्द्रिय ग्राम इतना सबल हो ही न पाये जिससे ऊँचे नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव में आये। इसी का निर्देश हमारे आचार्यों ने किया है। कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को उपदेश देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मान मैक्षदा–
वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

अर्थात् परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को बाहर की ओर देखने वाला बनाया है इसलिए इनका वेग बाहर की ओर चलता रहता है। बाहर के जितने विषय हैं वह विषयों को मोटा रूप है जैसे गन्ध तन्मात्र का स्थूल रूप पृथ्वी है, रसतन्मात्र का स्थुल रूप जल है, रूप तन्मात्र का स्थूल रूप अग्नि है, स्पर्श तन्मात्र का स्थूल रूप वायु है और शब्द तन्मात्र का स्थूल रूप आकाश है। हमारी इन्द्रियाँ पंच तन्मात्राओं के स्थूल रूप का ही दर्शन करती हैं न कि सूक्ष्म का, यदि ये पंचभौतिक स्थूलाभोग को छोड़कर सूक्ष्म तन्मात्राओं का दर्शन व अनुभव करने लग जाय तो थोड़े ही दिन के बाद ये सब इद्रियाँ स्थूल विषयों में विगतराग हो जायेंगी। इसलिए हमारे योगाचार्यों ने संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात नाम के दो योगों का वर्णन किया है। जो लोग सम्प्रज्ञात योग में प्रवेश कर जाते हैं उनकी इन्द्रियां सूक्ष्म तत्वों का अनुभव करने लग जाया करती हैं और ज्यों–ज्यों सूक्ष्म तत्वों का अनुभव करती हैं त्यों–त्यों उनके स्थूल भोग छूटते चले जाते हैं। इस अभ्यास के क्रमानुसार ज्यों–ज्यों योगाभ्यासी योगी उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाओं में प्रवेश करता है त्यों–त्यों निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में वह योगी विगत स्मृति हो जाया करता है। उत्तरोत्तर उन निम्न श्रेणियों से वह विगत स्पृह हो जाया करता है। उसका राग उच्च भूमिकाओं में बढ़ जाता है। इस तरह से योगी अपने चित्त के प्रवाह को, जो अभी स्थूल जगत की ओर तीव्रता से हो रहा था उसको सूक्ष्म जगत की ओर प्रवाहित कर लेता है। प्रवाह चलता रहता है चित्त की अपनी ताकत का सदुपयोग होता रहता है। इस प्रकार का वह चित्त उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं में प्रवेश करता हुआ हमारे परम

कल्याण का कारण बन जाता है। कदाचित् हम अपने चित्त को कहीं भी प्रवाहित न करें तो कभी भी इकट्ठी की हुई वह हमारी चित्त-शक्ति प्रस्फुटित हो सकती है और इस प्रकार बिखरी हुई चित्त शक्ति परिणाम में दु:खद रहेगी। इसलिए योगी को चाहिए कि वह निम्न श्रेणी की भूमिकाओं से अपने आपको उत्तम भूमिकाओं की ओर बढ़ाता चला जाय। जिससे स्वत: ही उसका मन निम्न श्रेणी से विगतराग हो जाय। भगवान पतंजलि देव ने निम्नलिखित योगसूत्र में सम्प्रज्ञात योग का स्वरूप बताया है-

वितर्क विचारान दास्मिता-

रूपानुगमात् सम्प्रज्ञात:।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य, यथा:—

वितर्क: चित्तस्यालम्वने स्थूल आभोग: सूक्ष्मो विचार:। आनन्दो: ह्लाद:। एकात्मिका संविद अस्मिता। तत्र प्रथम चतुष्ट-यागुत: समाधि: सवितर्क:। द्वितीयो वितर्क विकल सविचार:। तृतीयों विचार: विकल: सानन्द: चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति, सर्व एते सालम्बना समाधय:।

वितर्क, विचार और आनन्दानुगत समाधि सावलम्ब हैं। जिस समय योगी अपने सार्वदेशिक मन को एकाग्र करके संप्रज्ञात योग की ओर बढ़ना आरम्भ कर देता है तो ज्यों-ज्यों ऊपर की भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है त्यों-त्यों नीचे की भूमिकाओं को छोड़ता जाता है। जिस प्रकार से गांव का रहने वाला एक व्यक्ति गाँव के वातावरण को छोड़कर शहर में प्रवेश करता है तो वह ग्रामीण को नहीं अपितु उसे फिर शहरी जीवन ही पसन्द आ जाता है। इसी प्रकार बाह्य वासना दोषदर्शी व्यक्ति अन्तर्मुखता को प्राप्त करके बाह्य-वासनिक भोगों को बिल्कुल छोड़ देता है। संप्रज्ञात योग की प्रथम श्रेणी में प्रवेश करने वाला साधक सार्वभौम चित्त को इकट्ठा करके उसे अपने भीतर के दर्शन में लगाता है। वह सार्वभौम से निवृत्त होकर वितर्कानुगत योग में प्रवेश करता है। वितर्कानुगत योग में उसको तन्मात्राओं से सम्बन्ध रखने वाले बड़े-बड़े दिव्य अनुभव होने लग जाते हैं। उन सब दृश्यों को देखता हुआ वह योगी शनै:-शनै: विचारानुगत योग का अधिकारी हो जाता है। विचारानुगत योग का अधिकारी हो जाता है। विचारानुगत समाधि में देवलोक के दृश्य उसके सामने आने लगते हैं और वह स्वर्गीय दृश्यों को देखा करता है, तब मनुष्य लोक के दृश्यों से उसकी वैराग्य हो जाता है। विचारानुगत समाधि से जिस समय आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो उसे स्वर्गीय दृश्यों से भी स्वाभाविकीय उपरति होने लगती है और शनै: शनै: स्वर्गीय दृश्यों से भी उसको वैराग्य हो जाता है। इसी प्रकार से आनन्दानुगत समाधि का योगी अस्मितानुगत समाधि में प्रवेश करता है तो आनन्दानुगत के विषय को छोड़कर 'अस्मि' प्रत्यय को आधार बनाकर उसी में विलीन रहता हैं। इस श्रेणी में आकर वह दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्ण होकर वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त करता है इससे आगे आत्मा का निजी स्वरूप है जिसे महर्षि पतंजलि ने 'तदाद्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्' कह करके अभिव्यक्त किया है। अस्मितानुगत योग की अस्मि वृक्ति निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहलाती है यह वृत्ति अन्य सभी वृत्तियों का उपशमन करके स्वयं भी शान्त हो जाया करती है। इसी स्थिति में आत्मा केवलीभाव को प्राप्त हो जाता है। यहीं पर वैराग्य की स्थिति है। इसी को महर्षि पतंजलि ने ''तत्परं पुरुष ख्यतिर्गुण र्वतृष्ण्यम्'' कहकर अभिव्यक्त किया है। इसी वैराग्य को मोक्ष का नान्तरीयक कहा गया है। यही परास्थिति है जिसके लिए मनुष्य जीवन भर प्रयत्नशील रहा करता है। किसी भाग्यवान जीव को जन्म से ही विरक्ति की भावनाएँ पैदा हो जाती हैं वह उसका पूर्व जन्मकृत अभ्यास ही होता है। संसार में इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम देखने में आते हैं जिनके अन्दर जन्म से ही गुण वितृष्णता हो किन्तु जो लोग श्री गुरु जी को प्राप्त करके संप्रज्ञात योग के अभ्यासी बने रहते हैं वे लोग शनै: शनै: गुण वैतृष्णता को अवश्य ही पा जाया करते हैं। अत: हर साधक को चाहिए कि वह अपने आपको गुण विस्तृष्ण बनाने के लिए संप्रज्ञात योग का विद्यार्थी बन जाये, तभी वह साधक

'तत्परं पुरुष ख्यातंर्गुण वैतृष्णयम्'

को प्राप्त हो सकेगा।

अभ्यास के द्वारा वैराग्य की साधना

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग के गत अङ्क में हमने **'वैराग्य साधना का अमर उपाय''** शीर्षक लेख दिया था किन्तु अभ्यास के द्वारा मनुष्य किस प्रकार से वैराग्य के उच्चतम भावों को प्राप्त करता है यह भी हमारी शास्त्रीय पद्धति है। वैराग्य यद्यपि मोक्ष का एक सही रूप ही है। वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ योगी अपने मन में यह अवश्य मान ही लेता है कि—

प्राप्तं प्रापनीयं, क्षीणा: क्षेतव्या: क्लेशा: छिन्न: श्लिष्ट पर्वा, भवसंक्रमा यम्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं एतस्येव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

अर्थात प्राप्त करने लायक वस्तु प्राप्त कर ली, क्लेश क्षीण कर दिये, पोरी से पोरी की तरह जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया जिसके कारण जन्म और मरण होता था। अब मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, अजर-अमर नित्य तत्व हूँ। इस प्रकार वैराग्य मोक्ष का नान्तरियक सिद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में मन की चंचलता को स्वीकार करके अभ्यास और वैराग्य को मन की एकाग्रता का परम साधन माना है। गीता का वह प्रकरण इस प्रकार है। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न किया—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त:
साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि
चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।
चञ्चल हि मन: कृष्ण
प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्जुन ने कहा 'हे मधुसूदन! साम्यत्वेन जो योग आपने कहा है वह सर्वथा ठीक है। चञ्चलता से इस मन की स्थिरता मैं बिल्कुल नहीं देखता हूँ। हे कृष्ण यह मन बहुत ही चञ्चल बलवान एवं डालने वाला है। जिस प्रकार वायु को नहीं रोका जा सकता उसी उसी प्रकार इस मन को भी पकड़ा नहीं जाता। अर्जुन के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

अशंसयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्येय
वैराग्येण च गृह्यते।
असंयतात्मना योगो
दुष्प्राप इति में मति:।
वश्यात्मना तु यतता
शक्योऽवाप्तुमुपायत:।

हे महाबाहु अर्जुन! यह बात बिल्कुल सत्य है कि मन बहुत ही कठिनता से वश में आने वाला है और बहुत ही चञ्चल है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयतात्मना हैं, हे अर्जुन मेरा विचार है उनको योग कभी प्राप्त नहीं हो सकता, और जिन्होंने अपने आप पर नियन्त्रण किया है वह प्रयत्न करते हुए अवश्य ही उपाय से प्राप्त कर सकते हैं। इसी सिद्धान्त को कठोपनिषद् में उपदेश करते हुए यमदेव ने इस प्रकार कहा है—

यस्त्व विज्ञानवान्,
भवत्य युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्य वश्यानि,
दुष्टाश्वा इव सारथे:।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति।
युक्ततेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि,
सदश्वा इव सारथे:।।

अर्थात् जो मनुष्य अविज्ञानवान होता है अर्थात् जिसको मन पर नियन्त्रण नहीं होता उस व्यक्ति की इन्द्रियां वश में नहीं हुआ करती। इसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानवान है और युक्त मन वाला है, उसकी इन्द्रियां वश में हुआ करती हैं जैसे अच्छे घोड़े सारथी के वश में हुआ करते हैं।

अत: उपर्युक्त लेख से यह तो भली प्रकार सिद्ध हो गया कि अभ्यास-परायण योगी अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण प्राप्त करके अपनी प्रगति को ऊँचा बढ़ा सकता है और वह प्रेयसे परम श्रेय भागी बन ही सकता है। कदाचित भाग्यवश मनुष्य पर-वैराग्य को प्राप्त हो जाय तो वह गुण धर्मों से छूटकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो ही जाया करता है क्योंकि वैराग्य मोक्ष का नान्तरियक माना गया है। हमारे शास्त्रों में जहाँ अभ्यास के भिन्न-भिन्न प्रकार मिलते हैं उसी प्रकार से सांकेतिक भाषा में वैराग्य का महत्वपूर्ण वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार के छिपे हुए भाव हैं कि जिनको सहसा मनुष्य समझ भी नहीं सकता। वैराग्य शब्द का अर्थ है 'विगत राग' हो जाना। ज्यों-ज्यों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में राग-परायण होती हैं त्यों-त्यों वे सब अपने विषयों को छोड़ने में असमर्थ हो जाया करती है। इस विषय में हमारे पूर्व आचार्यों का इतिहास और स्मृति के रचयिताओं का बिल्कुल एकमत है। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति में बिल्कुल साफ और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

इन्द्रियाणां विचरतां
विषयेषु पहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठे
विद्वान यन्तेव वाजिनाम्।।
इन्द्रियाणां प्रसंगेन
दोष मृच्छत्य संशयम्।
सनियम्य तु तान्येव
तत सिद्धिं नियच्छति।।
न जातु काम: कामा-
नामुपभोगेन् शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवामिवर्द्धते।।
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च
नियमाश्च तंपासि च।
न विप्रदुष्ट भावस्य
सिद्धिं गच्छसि कर्हिचित।।
वशे कृत्वेन्द्रिय ग्रामं
संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्था-
नाक्षिणवन् योगतस्ततुम्।।
श्रुत्वा स्पृष्टवा च दृष्ट्वा च
भुक्त्वा घ्रात्वाचयो नर:।
न हृष्यति ग्लायति वा
स विज्ञेयो जितेन्द्रिय।।

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि चित्त का अपहरण करने वाली इन्द्रियों को इस प्रकार वश में रखे जिस प्रकार सुसारथी घोड़ों को रखा करता है क्योंकि इन्द्रियों का अनुगामी होने से हजारों प्रकार के दोष पैदा हो जाया करते हैं और उनको संयम में ले आने पर पर जल्दी ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। उत्पन्न हुई कामनायें, कामनाओं के उपभोग से कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत और और अधिक बढ़ती चली जाती है। जैसे अग्नि में घृत आदि हवि डालने से अग्नि और अधिक प्रज्वलित होती जाती है। उसी प्रकार इन्द्रियों का उपभोग करने पर उनका लौल्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता है क्योकि कभी भी अजितेन्द्रिय मनुष्य को वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप सिद्ध नहीं हुआ करते। अत: मनुष्य को चाहिए कि सारी इन्द्रियों के समूह और मन पर नियन्त्रण करके और योग के द्वारा अपने शरीर की रक्षा करते हुए कामनाओं को प्राप्त करें। जो मनुष्य सुन करके के, स्पर्व करके, देख करके, भोग करके, और गन्ध ग्रहण करके न प्रसन्न होता है, न ग्लानि को प्राप्त होता है उसको जितेन्द्रिय समझना चाहिए। इन सब शास्त्रीय सिद्धान्तों को पढ़कर और सुनकर मनुष्य एक ही निश्चय पर पहुँचता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों में राग होना ही वासनिक प्रवृति का मुख्य कारण है। यदि सभी इन्द्रियां अपने-अपने विषयो में विगतराग हो जायें तो उनकी प्रवृत्ति कभी भी उनमें हो ही नहीं सकती। इस विषय को इस प्रकार समझ लीजिए- जैसे हमारी चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति सुन्दर रूप देखने में रागान्वित है तो वह हमारे को सुन्दर रूप की ओर आकृष्ट कर देती है। यदि उसी चक्षु इन्द्रिय के सामने किसी मल-मूत्रादि घृणित दृश्य को लाया जाय तो वह उसको कभी भी देखना पसन्द नहीं करेगी। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय कभी भी उसका गन्ध ग्रहण करना, स्पर्श करना नहीं चाहेगी। क्योंकि यह उनमें विगत स्पृह है। अत: कदाचित किसी भाग्यवान साधकं को वैराग्य प्राप्त हो जाय तो उसका उसकी इन्द्रियों पर स्वत: ही नियन्त्रण हो जाया करता है। हम सबको चाहिए कि हम जहां जिस-जिस अभ्यास में प्रयत्नशील रहते हैं, वहां उसी प्रकार वैराग्य के लिए भी प्रयत्नशील रहें।

योग साधना में श्रद्धा का महत्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(कोलर योग-प्रचार व्याख्यातामाला का एक अंश)

कोलर हिमाचल प्रदेश में योग-प्रचार कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने भाषण में श्रद्धां का महत्व समझाते हुए भी गुरुदेव ने यह बताया कि श्रद्धा वह दैवी गुण है जो कि मनुष्य को परम कल्याण का भागी बना देती है।

'योगमार्ग में श्रद्धा का विशेष महत्व है। योगदर्शन के प्रणेता भगवान् श्री पतञ्जलिदेव जी ने समाधि प्राप्ति के विविध उपायों में श्रद्धा को प्रधानता दी है और कहा है—

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वक-मितरेषाम्।

श्रद्धा से ही क्रमश: वीर्य, स्मृति और समाधिप्रज्ञा प्राप्त होती है। यह बात व्यास देव जी महाराज ने अपने भाष्य में सिद्ध की है। जैसे-

तस्य हि श्रद्धधानस्य वीर्यमुपाजयते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूपतिष्ठते स्मृतिरूपष्ठानन्तस्य चित्तमनाकुलं समाधीयते।

इस प्रकार श्रद्धा के बल पर साधारण सांसारिक व्यक्ति भी समाधि को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर का स्वरूप ही श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसके लिए ईश्वर उसी रूप में प्रकट होता है। शास्त्रों कहा गया है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुष: यो यच्छ्रद्ध: स एव स:।

तथा—

जाकी रही भावना जैसी,

प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनकी प्रगति का आधार श्रद्धा ही रही।

इसके विपरीत जिन व्यक्तियों में श्रद्धा का अभाव रहता है वे सदैव शंकाग्रस्त रहते हैं और कुतर्कों के जाल में उलझ कर अपना अमूल्य जीवन बिता डालते हैं। वे किसी प्रकार भी अपना आत्मोत्थान नहीं कर पाते। गीता में तीन प्रकार की श्रद्धा का उल्लेख किया गया है। सात्विकी, राजसी और तामसी।

सात्विकी श्रद्धां सम्पन्न व्यक्ति यदि अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि यमों का तथा नियमों का तत्परता से पालन करता हुआ पवित्र योग मार्ग का अनुयायी बन जाये तो उसके परम कल्याण में कोई सन्देह ही नहीं है।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का वचन है-

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं

तत्पर: संयतेन्द्रिय:।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-

मचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात् श्रद्धालु, तत्परतापूर्वक साधना में लगे रहने वाला एवं संयमी व्यक्ति ही तत्वज्ञान को प्राप्त कर पाता है। जिसे पाकर वह शीघ्र ही शाश्वत शान्ति को पा जाता है।

प्रात: स्मरणीय भगवान व्यासदेव जी महाराज ने श्रद्धा की परिभाषा एवं उसका फल बताते हुए कहा है—

श्रद्धा चेतस: सम्प्रसाद:, सो हि कल्याणी जननीव योगिनं पाति।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है। वह कल्याण करने वाली होती है और योगी की माता की तरह रक्षा करता है।

वास्तविक श्रद्धा वह है जहां क्यों और कैसे का प्रश्न ही न उठे, सभी प्रकार के तर्क एवं शंकायें समाप्त हो जायें तथा अपने आराध्यदेव पर प्रत्यक्ष हो जायें तथा अपने आराध्यदेव पर प्रत्यक्ष से बढ़कर विश्वास होने लगे। श्रद्धा की पराकाष्ठा से ही आत्म-समर्पण होता है और यह आत्म समर्पण ही ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है, जिसका फल भगवान पतञ्जलिदेव ने समाधि ही बतलाया है।

हमारे देश का इतिहास उन अनेकानेक भक्तात्माओं की पावन गाथाओं से भरा हुआ है जिन्होंने अपनी श्रद्धा के बल पर पत्थर में से भगवान को प्रकट कर दिया। गोस्वामी तुलसीदास जी की श्रद्धा ने भगवान को अपने कृष्ण रूप को हटाकर राम रूप में प्रकट होने को बाध्य कर दिया। गोस्वामी तुलसीदास जी की श्रद्धा ने भगवान को अपने कृष्ण रूप को हटाकर राम रूप में प्रकट होने को बाध्य कर दिया। एकलव्य ने अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा के कारण अपने गुरुदेव की मृण्मय प्रतिमा से ही धनुर्विद्या में वह दक्षता प्राप्त कर ली जिसे कि अर्जुन भी प्राप्त न कर सका था। परम

योगिनी मीराबाई की श्रद्धा ने माता की तरह रक्षा करते हुए उसे कुटुम्बीजनों द्वारा दी गई यातनाओं के कुप्रभाव से मुक्त रखा। इस प्रकार के और भी अनेकों उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपनी श्रद्धा के सहारे हर प्रकार की बाधाओं को पार करता हुआ अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और परम कल्याण का भागी बन सकता है।

अत: साधकों को चाहिए कि वे अपने आराध्य में और गुरु मन्त्र में, अपने साध्य और साधन में पूर्ण श्रद्धा रखें। वह श्रद्धा ही कालान्तर में उन्हें योगारूढ़ करा देगी।

अन्त में अपनी विनोदमयी भाषा में महाराज जी ने एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत किया।

'एक देवी ने श्रद्धापूर्वक किसी सिद्धयोगी से योगदीक्षा प्राप्त की। गुरुमन्त्र का पहला अक्षर 'स' था। वह महिला कुछ अशिक्षित थी। उसे पूरा मन्त्र तो याद नहीं रहा। सौ-सौ का जाप करती रही। उसे धन की कामना थी। अत: मन्त्रजप के प्रभाव से उसे दिन उसे सौ रुपये का लाभ हो गया। शाम के समय वह अपने गुरुदेव के चरणारविन्दों में उपस्थित हुई ओर बोली- महाराज जी! आपने बड़ा अच्छा मन्त्र दिया। मैं दिनभर आपका दिया मन्त्र सौ-सौ जपती रही जिससे मुझे सौ रुपये का लाभ हो गया।

गुरुदेव उसकी श्रद्धा को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले देवी! यदि ऐसी बात है तो कल को 'दो सौ' का जाप करना।

उस महिला ने वैसा ही किया और अतिशय श्रद्धा से 'दो सौ' 'दो सौ' जपती रही और अगले दिन उसे दो सौ रुपये का लाभ हो गया। यह था उसकी श्रद्धा का परिणाम।

अगले दिन पुन: जब वह गुरुदेव के श्री चरणों में उपस्थित हुई तो उन्होंने उसे लालच न करने की सलाह दी और मन्त्र का यथार्थ स्वरूप बतलाकर निष्काम भाव से मन्त्र जप करते रहने की आज्ञा प्रदान की। यह कोई कहानी नहीं है बल्कि श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों से सम्बन्धित एक सच्ची घटना है।

इस प्रकार **''यं यं चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्''** वाला सिद्धान्त श्रद्धावान् व्यक्ति पर अवश्य लागू होता। अत: कल्याणकामी व्यक्ति को श्रद्धालु एवं साधन परायण बने रहना चाहिए।

योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने योग की अपार महिमा बतलाते हुए अपने सखा अर्जुन को जहां योगी बनने की सलाह दी वहां यह भी स्पष्ट कर दिया कि श्रद्धावान् योगी ही मुझे सबसे अधिक प्रिय है। जैसे-

तपस्विभ्यऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जन!।।
योगिनामपि सर्वेषां,
मग्दतेनान्तररात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो माँ,
स मे युक्ततमो मत:।।

अर्थात्- तपस्वियों से योगी का दर्जा ऊँचा है। ज्ञानियों से योगी श्रेष्ठ है, और कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन तू योगी बन।

योगियों में भी वह श्रद्धावान् योगी जो मुझे हृदय में धारण करके अत्यन्त श्रद्धा से निरन्तर मुझ परमेश्वर को भजता है। वह योगी मुझे अत्यधिक प्रिय है।

सहस्रार की साधना एवं उसका अमरफल

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

साधनाशील व्यक्ति यदि अपने मनको कभी भी साधना में एकाग्र कर लेता है, तो की आगे की साधनायें अनायास ही चलती जाती हैं। और वह हर विषय में जल्दी ही दी सफलता प्राप्त करता चला जाता है। ने वाले मकान की बुनियाद पक्की होनी चाहिए। जो जमीन में अपने मकान की बुनिद पक्की कर लेते हैं वे उसकी दो मंजिला नहीं चाहे उस मंजिल तक ले जायें वह रहता है। जिन मकानों की बुनियादें की व खोखली रहती हैं वे लोग यदि अपने वनों को दो मंजिल, चार मंजिल बनाने की कोशिश करते हैं तो खतरे से खाली नहीं होता मकान कभी न कभी गिर पड़ता है। में पढ़ने वाले छात्र यदि नीचे की से ठोस होते हुए चले जाते हैं तो की कभी भी गिरावट नहीं होती और पढ़ते हुए वे उन्नति के उच्चतम लक्ष्य अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। पिछले प्रेरणों में हमने षट्चक्रों की साधना का वर्णन किया है। वस्तुत: विचार किया जाय तो उनमें से मूलाधार की साधना ही प्रारम्भिक एवं कठिन सी साधना है। जो लोग मूलाधार को साधना की परिपक्वता अभ्यास में ले आते हैं उन लोगों के लिए अन्य चक्रों की साधनायें सुगम से भी सुगम हो जाती हैं। और वे लोग जल्दी से जल्दी ऊँची प्रगति को प्राप्त कर लेते हैं। साधना के विषय में योग-दर्शन में भगवन पतञ्जलि देव ने यह आदेश दिया कि—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवतो दृढ़भूमि:।

अर्थात् जो साधक अपनी साधना को लम्बे समय तक करता है और आदरपूर्वक करता है, वह अपने लक्ष्य को अवश्य ही सफलता के साथ प्राप्त कर लेता है। षट्चक्रों की साधना के बाद भगवान सदाशिव ने अपनी शिव-संहिता में सहस्रदल कमल की साधना का वर्णन किया है। यह कमल शिव-शक्ति के साथ मिलाप का स्थान है। यहां पर आकर शक्ति रूप जीवात्मा शिव रूप गुरुदेव में लय हो जाता है। जीव में जब तक भोग की वासनायें कायम हैं, आधि-व्याधि का अनुभव करता है, तब तक उसकी सत्ता जीव सत्ता है और जब उस सत्ता को छोड़कर अपने नित्य सच्चिदानन्दघन स्वरूप में वह लीन रहने लगता है तथा वर्षों तक उसी स्थिति को देखता चला जाता है तो वह जीव-सत्ता को बिल्कुल ही भुला देता है। वह अपने आपको सर्वतस्थ देखने लगता है, एवं उस स्थिति को नित्य स्थिति अनुभव करता है। जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट शब्दों में इस बात को इस प्रकार कहा है—

सर्वभूतस्थ आत्मानं सर्वं
भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा
सर्वत्र समदर्शन।।

अर्थात् ऐसा योगी अपने आपको प्राणिमात्र के अन्दर स्थित देखता है और प्राणिमात्र को अपने अन्दर विलीन देखता है और प्राणिमात्र को अपने अन्दर विलीन देखता है। वह समदर्शित्व को प्राप्त कर लेता है। भगवान सदाशिव ने सहस्रदल कमल का वर्णन इस प्रकार किया है—

अत ऊर्ध्वं तालुमूले
सहस्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया
मूलं सविवरम् स्थितम्।
तालुमूले सुषुम्णास्य
अधोवक्त्रा प्रवर्तते।
मूलाधारेण योन्यस्ता
सर्वं नान्य: समाश्रिता:।।
ता बीजभूतास्तत्वस्य
ब्रह्ममार्ग प्रदरायिका:।
तालुस्थाने च यत्पद्मं
सहस्रारं पुरोदितम्।।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति
पश्चिमाभिमुखी मता।
तस्य मध्ये सुपुभ्णाया
मूलं सविवरं स्थितम्।।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्त-
मामूलाधार पंकजम्।

तत्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्ति:

सुषुम्णा कुण्डली सदा।।

षुसुम्णायां स्थिता नाड़ी

चित्रा स्यान्ममबल्लभे।

तस्यां मम मते कार्य

ब्रह्मरन्ध्रादि कल्पना।।

यस्या: स्मरणमात्रेण

ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।

पापयक्षश्च भवति न

भृय: पुरुषो भवेत्।।

अर्थात् इससे आगे तालुमूल में सहस्रदल कमल विद्यमान है। उस स्थान में ब्रह्मरन्ध्र में सुषुम्णा नाड़ी की स्थिति इस प्रकार है। यह सुषुम्णा नाड़ी तालुमूल के नीचे की ओर विद्यमान है। मूलाधार से लेकर योनि पर्यन्त जितनी भी नाड़ियां हैं वे सब सुषुम्णा के आश्रित हैं। तालुमूल में जो सहस्रदल कमल कहा गया है उसके कन्द भाग में एक योनि है जिसका मुख पश्चिम की ओर है। उस योनि के मध्य में मूल विवर है। उसमें सुषुम्णा स्थित है। उसी को ब्रह्मरन्ध्र एवं मूलाधार कहते हैं। उस सुषुम्णा नाड़ी के मध्य में महाशक्ति कुण्डलिनी विराजमान है। सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर चित्रा नाम की एक नाड़ी है, इससे ही ब्रह्मरन्ध्र की कल्पना है। इस दिव्य नाड़ी के स्मरण मात्र से ब्रह्मत्व हो जाता है और सब प्रकार के पापों का क्षय होकर पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है–

प्रवेशितं चांङ्गुष्ठं

मुखेस्वस्य निवेशयेत्।

तेतात्र न वहत्येव

देहाचारी समीरण:।।

तेन संसार चक्रेऽस्मिन्न

भ्रमन्ते च सर्वदा।

तदर्थं ये प्रवर्तन्ते

योगिन: प्राणधारणे।।

तत एवाखिला नाड़ी

निरुद्धा चाष्टवेष्टनम्।

इयं कुण्डलिनी शक्ति

रन्ध्रं त्यजति नान्यथा।

यदा पूर्णासु नाड़ीषु

सनिरुद्धानिलास्तदा।

बन्ध त्यागेन कुण्डल्या

मुखं रन्ध्राद्वहिर्भवेत्।।

सुषुम्णायां सदैवायं

वहेत्प्राणसमीरण:।

अर्थात् शरीर में घूमने वाले प्राणवायु पर कन्ट्रोल करने का एक उपाय बतलाते हुए महर्षि गरुण कहते हैं कि अपने दाहिने हाथ के अँगूठे को मुख में प्रवेश कराने पर मुख बन्द कर लेने पर शरीर में होने वाला वायु अवश्य स्थिर हो जाता है। और इस प्राणवायु के स्थिर हो जाने से संसार में जन्म-मरण का चक्र काटकर मनुष्य मुक्ति पा जाता है। इसीलिए योगी लोग प्राणवायु पर नियन्त्रण करने के प्रयत्न में हर समय लगे रहते हैं। इस प्रकार प्राणायाम करने से सभी प्रकार के नाड़ियों के मल जल जाते हैं। काम, क्रोध आदि के महान रन्ध्र खुल जाते हैं। ऐसा अभ्यास करने से महाशक्ति कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार को छोड़ देती है, और इससे जीव ब्रह्मद्वार को छोड़ देती है, और इससे जीव ब्रह्म का उभय-मिलन, एकता सदा सर्वदा के लिए हो जाती है। प्राणवायु के नाड़ियों में निरोध होने से सारी नाड़ियां पूर्ण हो जायेंगी। और कुण्डलिनी महाशक्ति अपने ब्रह्मरन्ध्र के द्वार को छोड़ देगी। ऐसा होने पर प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जायेगा। प्राणवायु के सुषुम्ना में प्रवेश कर जाने के बाद क्या स्थिति होगी, यह आगे पढ़िये–

मूल पद्मस्थिता योनि-

र्वामदक्षिणकोणत:।

इड़ा पिङ्गलयोर्मध्ये

सुषुम्नायोनिमध्य गा।।

ब्रह्मरन्ध्रन्तु तत्रैव

सुषुम्णाधारमण्डले।

यो जानाति स मुक्त:

स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षण:।।

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां

सङ्गम: स्यादसंशय:।

तस्मिन स्नाने स्नातकानां

मुक्ति: स्यादविरोधत:।।

गंगायमुनयोर्मध्ये

वहात्येषा सरस्वतीं।

तासान्तु सङ्गमे स्नात्वा

धन्योयातिपरां गतिम्।।

इड़ा गंगा पुरा प्रोक्ता

पिङ्गला चार्कपुत्रिका।

मध्य सरस्वती प्रोक्ता

तासां सङ्गोऽति दुर्लभः।।

अर्थात् मूलाधार कमल के मध्य भाग में जो योनि स्थान कमल है उस योनि के दायीं और बांई ओर इड़ा और पिङ्गला मध्य में सुषुम्ना की स्थिति है। तथा सुषुम्ना के मध्य में ब्रह्मरन्ध्र द्वार है जो योगी ब्रह्मरन्ध्र द्वार को जान जाया करता है वह सब प्रकार के कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाया करता है। ब्रह्मरन्ध्र के मुख में इन तीनों नाड़ियों का स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसी को त्रिवेणी कहा गया है। उसमें स्नान करने से योगीजन मुक्ति लाभ करते हैं। इसी को गंगा और यमुना का संगम कहा गया है जिसमें स्नान कर योगी लोग परमगति को प्राप्त करते हैं। इड़ा गंगा है, पिंगला यमुना है और उसके मध्य में सरस्वती का स्थान है। इनका संगम अत्यन्त दुर्लभ है। इड़ा और पिंगला के संगम में यदि साधक मन के संकल्प से स्नान करता है तो वह सर्व पाप विमुक्तात्मा होकर परब्रह्म में लय हो जाया करता है–

सितासिते संगमे यो

मनसा स्नानमाचरेत।

सर्वपापविनिर्मुक्तो

याति ब्रह्मसरनातनम्।।

त्रिवेण्यां सङ्गमे यो

वे पितृकर्म समाचरेत्।

तारयित्वा पितृन्सर्वान्स–

याति परमां गतिम्।।

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं

प्रत्यहं यः समाचरेत्।

मनसा चिन्तयित्वा तु

सोऽक्षयं फलमाप्नुयात्।।

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गे

सौख्यं भुनक्ति सः।

दग्ध्वा पापानशेषान्वै

योगी शुद्धमतिः स्वयम्।

अपवित्रः पवित्रो वा

सर्वावस्थां गतोऽपिवा।

स्नानाचरणमात्रेण पूतो

भवति नान्यथा।।

मृत्युकाले प्लुतं देहं

त्रिवेण्याः सलिले यदा।

विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स

तदा मोक्षमाप्नुयात्।।

नातः परतरं गुह्यं

त्रिणु लोकेषु विद्यते।

गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न

व्याख्येयं कदाचन्।।

ब्रह्मरन्ध्रे मनोदत्वा

क्षणार्धं यदि तिष्ठति।

सर्वपापविनिमुक्त स

याति परमां गतिम्।।

अस्मिन लीनं मनो यस्य

स योगीमपि लीयते।

अणिमादि गुणान् भुक्त्वा

स्वेच्छया पुरुषोत्तमः।।

इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नानकी इस मानस त्रिवेणी में जो पितृ तर्पण करता है वह सब पितरों को तराकर आप भी तर जाता है। इसके अतिरिक्त नित्य–निमित्तिक काम्य कर्मों का जो मन से भी अनुष्ठान करते हैं वे अवश्य अक्षय पुण्य के फल को प्राप्त होते हैं। सब पापों का नाश करके शुद्धमति योगी दिव्य–स्वर्ग सुख का अनुभव करते हैं। अपवित्र हो या पवित्र हो चाहे कैसी ही स्थिति हो इस मानस स्नान का आचरण करने से सर्वथा पवित्र हो जाते हैं। अन्तिम समय मृत्युकाल में इस दिव्य त्रिवेणी का ध्यान करके एवं इसमें स्नान करके जो देह का त्याग करते हैं तो वे अवश्य ही मोक्ष लाभ करते हैं। इस दिव्य त्रिवेणी में इससे बढ़कर कुछ भी नहीं। जो योगी एक क्षण भी ब्रह्मन्ध्र में मन लगाते हैं वे अवश्य सब प्रकार के पाप–पुण्य से मुक्त होकर एवं अणिमादिक को पाकर एवं उनका उपभोग करके भी परमगति को प्राप्त होते हैं। यह सब वर्णन करके भगवान सदाशिव

सहस्रार कमल के ध्यान की बार-बार पुष्टि करते हैं और पुन: उसके महान फल का वर्णन करते हैं। भगवान शिव कहते हैं—

यस्य स्मरण मात्रेण
योगीन्द्रोऽवनि मण्डले।
पूज्यो भवति देवानां
सिद्धानां सम्मतो भवेत्।।
शिर: कपालविवरे
ध्यायेद् दुग्धमहोदधिम्।
तत्र स्थित्वा हससारे
पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत्।।
शिर: कपालविवरे
द्विरष्टकलयायुतम्।
पीयूष भानुहंसाख्यं
भावयेत्तं निरञ्जनम्।।
निरन्तरकृताभ्यासात्
त्रिदिने पश्यति ध्रुवम्।
दृष्टिमात्रेण पापौधं
दहत्येव स साधक:।।
अनागतं च स्फुरति
चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु।
सद्य: कृत्वापि दहति
महापातकपुञ्जकम्।।
आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति
सर्वे नश्यन्त्युपद्रवा:।
उपसर्गा: शमं यान्ति
युद्धे जयमवाप्नुयात्।।
खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवे-
च्छीरिन्दु दर्शनात्।
ध्यानादेव सर्वेत्सर्वं
नात्र कार्या विचारणा।।
सततताभ्यासयोगेन
सिद्धो भ:ति मानवा:।
सत्यं सत्यं पुन: सत्यं
ममतुल्योभवेद्ध्रुवम्।।
योगशास्त्रं च परमं
योगिनां सिद्धिदायकम्।

अर्थात् जिसके स्मरण मात्र से योगीन्द्र अवनिमण्डल पर पूज्य बन जाता है, और सिद्धों में सन्मान प्राप्त करता है। जो इस ब्रह्मरन्ध्र विवर में क्षीरपद्म का ध्यान करके हंस संज्ञक निरंजन का ध्यान करे एवं सहस्रार में चन्द्रमा का चिन्तन करे वह तीन दिन के नित्य अभ्यास से उस नित्य चेतन को देख लेता है, और सब पापों का दहन कर देता है। उसके सब पातक नष्ट हो जाते हैं। जो वस्तु न देखी है न सुनी है अपने आप ही उन-उन वस्तुओं का स्मरण होने लगता है। सब उपद्रवों का नाश हो जाता है, विघ्न-बाधायें नष्ट हो जाती हैं। युद्ध में विजय होती है। तथा खेचरी, भूचरी सिद्धियां अवश्य ही प्राप्त होती हैं। इस सहस्रदल कमल का नित्य प्रति ध्यान करने से मनुष्य अवश्य सिद्ध बन जाता है। भगवान शिव कहते हैं कि वह मेरी जैसी ताकत वाला बन जाता है आदि-आदि।

योगी प्रारम्भिक उपासना से ही अपनी शक्ति के आप उपासक होते हैं। वे किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी उपासना व आत्मदर्शन समाधि का अर्थ ही तल्लयता है। यदि मनुष्य भगवान शिव में समाधि लगाता है तो उसके अपने स्वत्व का आधार खत्म होकर के शिवत्व का ही आभास प्रतिक्षण बना रहता है।

अत: जो योगीजन षट् चक्रों का भेदन करके सहस्रार चक्र में स्थिति उपलब्ध करते हैं वे शुद्ध स्वरूप होकर ज्ञानमय हो जाते हैं। वे सोऽहम् तत्व को भली प्रकार से अपने मन में अनुभव करते हैं, और स्वयं वे भगवान शिव के स्वरूप हो जाते हैं। इस प्रकार योगी का परम रहस्य योगाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में खोल कर लिया है। जो इनका थोड़ा सा भी चिंतन करने का प्रयत्न करेगा, और अपने आप को कृतार्थ बना लेगा।

योगी और ईश्वर तथा उनकी सामर्थ्य

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अखिल लोकपावन जगदात्मा श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में योगी के लक्षण बताते हुए कहा है—

ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युज्यते योगी
समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।

अर्थात् ज्ञान और विज्ञान से जो तृप्त है, जिसका प्रकृति के सभी विश्लेषणों पर पूर्ण अधिकार है और जो मिट्टी के ढ़ेले तथा सोने को एक दृष्टि से देखता है, ऐसा व्यक्ति योगी कहलाता है।

इधर योगदर्शनकार भगवान पतञ्जलिदेव जी ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार किया है—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

अर्थात् जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से बिल्कुल अछूता है ऐसे पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

यहां पुरुष विशेष कहने का अभिप्राय है कि पुरुष तो और भी हैं किन्तु ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है। अतः वह आदि योगी है। क्योंकि- ''स तु सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः प्रकर्षगत्या सिद्ध इति।'' वह सदा ही मुक्त है, सदा ही ईश्वर है, प्रकर्ष गति से वह सिद्ध है। सिद्ध बनने के लिए उसे कभी किसी काल में भी कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

वैसे क्लेश, कर्म, विपाकादि योगियों के भी छूट जाते हैं, क्योंकि उनके कर्म आकृष्ण-आशुक्ल (पाप-पुण्य से रहित) हो जाते हैं।

ईश्वर में और उनमें अन्तर भी यही है कि वे क्लेश, कर्म, विपाक रूप तीन बन्धनों को काटकर सिद्ध बनें किन्तु ईश्वर तो इन बन्धनों से स्वतः ही मुक्त है। जैसे-

ते तु त्राणि बन्धनानि छित्वा मुक्ता ईश्वरस्तु तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी, स हि सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः प्रकर्षगत्या सिद्धः।

अर्थात् साधन-सिद्ध योगी तो उन तीन बन्धनो को काटकर मुक्त हुए किन्तु ईश्वर का उन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध रहा और न रहेगा, वह तो अनादि काल से मुक्त है और सदा से ही ईश्वर है। तथा प्रकर्षगति से सिद्ध है। उसकी सिद्धता में कभी किसी प्रकार की कमी आयी ही नहीं। अतः वह आदि सिद्ध है और आदि योगी है।

पुराणो में ईश्वर के लिये स्थान-स्थान पर पुरुषोत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से कहा है-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके
क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थीक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य
विभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

इस संसार में नाशवान और अविनाशी ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के शरीर तो क्षर (नाशवान) हैं और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है, वही परमात्मा कहलाता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽह-
मक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे
च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

चूँकि मैं नाशवान क्षर से तो अतीत हूँ ही, अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

आदि योगी ईश्वर और साधन सिद्ध योगियो में अन्तर स्पष्ट करते हुए पतञ्जलिदेव जी महाराज ने अपने योगदर्शन में लिखा है-

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्।

उस ईश्वर में सर्वत्र बीज की पराकाष्ठा है। अर्थात् उसके बराबर सर्वज्ञ और कोई नहीं है।

यहाँ ये शब्द यह भी बतलाते हैं कि ईश्वर से बढ़कर सर्वज्ञ तो कोई नहीं है किन्तु उससे कम तो हैं, उसके समान सिद्ध तो कोई नहीं है पर उससे कम तो हैं। इससे यह जाहिर होता है कि सिद्ध और भी हैं।

जैसे- **''बिड़ला जी सबसे बड़े धनी हैं।''** इस वाक्य का अभिप्राय है कि धनी तो और भी हैं किन्तु बिड़ला जी उन सबसे बड़े हैं।

इसी प्रकार ईश्वर एक ऐसा धनी है जिसका खजाना कभी खाली हुआ ही नहीं, जिसको खजाना जुटाने की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। दूसरा घनी वह है जो साधना-सिद्ध है। अर्थात् जिसने अपनी कमाई से कुछ लाख की सम्पत्ति जुटाली है। बिड़ला जी के समान तो वह नहीं है किन्तु है वह भी घनी ही।

इस प्रकार हिमालय में रहने वाले गोपीचन्द्र, भर्तृहरि, जलन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, तथा अन्यान्य योगिराज भी उसी योगेश्वर्य से सम्पन्न हैं जिससे ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि संसार का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं। इसका यह मतलब है कि वे योगी तो पुराने हैं, आदि सिद्ध हैं किन्तु ये भी सिद्ध ही हैं। ये भी शक्ति के मालिक हैं।

जिस प्रकार बिन्दु-सिन्धु में मिलकर सिन्धु ही बन जाता है। उसी ईश्वर का अंशीभूत जीव जब क्लेश, कर्म, विपाकादि से मुक्त हो जाता है तो वह उसी कोटि में आ जाता है जिसमें ईश्वर है। उसमें और ईश्वर में अन्तर रह जाता है तो केवल इस बात का कि ईश्वर की शक्ति विशेष है, वह निरतिशय है, जबकि साधन-सिद्ध योगी सातिशय है।

इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी योगी ही हैं। श्रीमद्भागवत्पुराण में सभी को योगी, महायोगी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। जैसे-

ब्रह्मरूपेण महायोगी

रचयेदखिलं जगत्।

विष्णुरूपेण महायोगी

पालयेदखिलं जगत्।।

शिवरूपेण महायोगी

संहरेदखिलं जगत्।

श्रीमद्भागवत्पुराण, महाभारतत्पुराण तथा अन्यान्य पुराणों में जहाँ कहीं भी श्रीकृष्ण का इतिहास मिलता है उन्हें योगी, महायोगी, योगेश्वर आदि नामों से ही सम्बोधित किया गया है।

एक बार वृन्दावन में बहुत से ग्वाल-बाल कालीदह पर विषैला जल पीकर मर गये तो भगवान ने उन्हें अपनी आंखों से देखा और वे जीवित हो गये। इस प्रसंग में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। देखिये-

तान्वीक्ष्य तथाभूतान्कृष्णो-

योगेश्वररेश्वरः।

ईक्षयाऽमृतवर्षिन्या

स्वनाथान्संजीवयत्।।

श्रीकृष्ण के इतिहास में भक्त भक्तेश्वर, दास-दासेश्वर ज्ञानेश्वर ज्ञानिनं आदि नामों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, जबकि योग योगेश्वर शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया गया है।

एक बार श्री वृन्दावन में आग लग गई। श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों से कहा- तुम लोग अपनी आँखें बन्द कर लो। जब उन्होंने आँखें बन्द कर लीं तो श्रीकृष्ण अपनी योग-शक्ति से उस अग्नि को पी गये। भागवत् पुराण का वचन है—

तथैति वीरताथैति

भगवानग्निमुज्ज्वलम्।

पीत्वा मुखेन तान्

कृच्छाद्योगाधीशो व्यमोचयत्।।

योगाधीश-अर्थात् योग के मालिक श्रीकृष्ण ने उस आग को पीकर उन्हें संकट से मुक्त कर दिया।

जहाँ-जहाँ भी इस प्रकार की अलौकिक बातें हुई, वह सब योग का ही चमत्कार था।

द्रोपदी ने भरी सभा में जब श्रीकृष्ण को सहायता के लिए पुकारा तो उसने उन्हें महायोगी कहकर पुकारा। जैसे-

कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन!

कृष्ण गोपीजन प्रिय!

कौरवार्णव निमग्नां मां

किं न पश्यसि केशव!

हे कृष्ण! हे महायोगी कृष्ण! हे गोपियों के प्यारे कृष्ण! कौरवों के समुद्र में फँसी हुई मुझ असहाय अवला को क्या तुम देख नहीं रहे हो?

इस पर श्रीकृष्ण ने अपनी दूर श्रवण शक्ति से उसकी आर्त पुकार को सुना, दिव्य-दृष्टि से उसे देखा और तत्काल उसकी सहायता की।

गीता को उठाकर देखो। भगवान ने अर्जुन को बहुत सी बातें बताई, अपनी यौगिक विभूतियों का वर्णन किया। इस पर अर्जुन ने उनसे निवेदन किया—

एवमेतद्यथात्थत्वमा-

त्मात्मानं परमेश्वर!

द्रष्टुमिच्छामि ते रूप-

मेश्वरं पुरुषोत्तम।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं

मया द्रष्टुमिति प्रभो!

योगेश्वर ततो में त्वं

दर्शयात्मानमव्ययम्।।

हे परमेश्वर! अपने-अपने ऐश्वर्य के विषय में जो कुछ कहा है वह बिल्कुल ठीक है, उसमें मुझे किञ्चित्मात्र भी शंका नहीं है, परन्तु हे पुरुषोत्तम आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज से युक्त ऐश्वर रूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।

हे प्रभो! यदि आपका वह रूप मेरे द्वारा देखा जाना सम्भव है तो है योगेश्वर अपने उस अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये।

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा— अरे अर्जुन! तू मुझे अपनी इन आँखों से नहीं देख सकता। अत: मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूँ, इससे तू मेरी ईश्वरीय योग-शक्ति को देख। जैसे—

न तु मां शक्यते द्रष्टु-

मनेनैव स्वचक्षुणा।

दिव्यं ददामि ते चक्षु:

पश्य मे योगमैश्वरम्।।

इस प्रकार भगवान ने अर्जुन को दिव्य-दृष्टि दी, जिससे उसे आंखें लगीं और उससे उसने भगवान के विराट रूप के दर्शन किये। बाद में अर्जुन की प्रार्थना पर वे अपने चतुर्भुज रूप (विष्णुरूप) में परिवर्तित हो गये और अर्जुन से बोले-

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं

रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं

यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।

हे अर्जुन! मैंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से अपना परम तेजोमय, सबका आदि और सीमा रहित विराट रूप तुझे दिखाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त अन्य किसी ने इससे पूर्व नहीं देखा था।

महाभारत की लड़ाई का प्रसंग है— अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि वह सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ को मार डालेगा। सूर्यास्त निकट होने को आ गया किन्तु वह मारा नहीं जा रहा था, तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए अपनी योगमाया से सूर्य को ढक दिया। सूर्यास्त सा प्रतीत होने लगा तो जयद्रथ निर्भय होकर सामने आ गया। तब अर्जुन के द्वारा उसका वध कर दिये जाने पर श्रीकृष्ण ने सूर्य को पूर्ववत् प्रकट कर दिया। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण के लिए योगी, योगयुक्त योगियों का ईश्वर आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। यथा—

योगी योगेन संयुक्तो

योगीनामीश्वरो हरि:।

इसी प्रकार भगवती दुर्गा के लिए जहाँ-तहाँ योगिनी, महायोगिनी आदि नामों का प्रयोग किया गया है। वृदावन में गोपियाँ दुर्गाजी की स्तुति करती हुई कहती हैं—

कात्यायनी महामाये

महायोगिन्यधीश्वरी।

नन्दगोपसुतं देवं पतिं

मे कुरु ते नम:।।

हे कात्यायनी! हे महामाये! हे महायोगिनी! हे योगिनियों की अधीश्वरी भगवतो दुर्गा! नन्दकुमार श्रीकृष्ण मेरे पति बन जायें आप मुझ पर ऐसी कृपा करो। आपको बार-बार नमस्कार है।

इसी प्रकार भगवान विष्णु के लिये भी स्थान-स्थान पर योगी, महायोगी आदि नामों का प्रयोग किया गया है। जैसे-

विष्णुर्नाम महायोगी

सहस्रशो महत्तप:।

तत्वमार्गे यथा दीप:

दृश्यते पुरुषोत्तम:।।

इस प्रकार ईश्वर योगी ही है और योग शक्ति का विशेष धनी होने के कारण ही वह ईश्वर कहलाता है। क्योंकि योगी ही शक्ति के मालिक होते हैं और चमत्कारपूर्ण अलौकिक कार्य करने की सामर्थ्य रखते हैं—

चाहे साधनसिद्ध योगी हो या अनादि योगी ईश्वर वह अष्टविधि योगसिद्धियों का स्वामी हुआ करता है। दूरदर्शन, दूरश्रवण, आकाश गमन, परकाय-प्रवेश, अपना रूप परिवर्तित कर देना, एक समय में अनेकों शरीर धारण कर लेना, मृतों को जीवित कर देना, अन्तर्धान हो जाना, पानी पर चलना आदि सभी कार्यों को करने की योग्यता दोनों श्रेणी के योगियों में हुआ करती है।

आज के युग में भी इस पवित्र भूमि भारत में ऐसे योगी विद्यमान हैं जिनके लिए उपरोक्त प्रकार के कार्यों को कर डालना बच्चों के खेल के समान है। इसके लिए कुछ उदाहरण मैं यहाँ दे देना चाहता हूँ।

मृतक के अस्थि–पंजर को जीवित करने की घटना —

आज से पचास वर्ष पूर्व की घटना है। किसी योगी ने एक नरकंकाल (मनुष्य के अस्थिपंजर) को जीवित करके कानपुर शहर में तहलका मचा दिया था। यह घटना हजारों व्यक्तियों ने अपनी आंखों से देखी और सभी अखबारों में काफी समय तक चर्चा का विषय रही। जब किसी आर्य समाजी मन्त्री ने घटना की सत्यता पर सन्देह प्रकट किया तो कुछ लोगों ने योगिराज से निवेदन किया कि आप दुबारा ऐसा चमत्कार कीजिये। पहले तो योगिराज टालते रहे, बाद में लोगों के आग्रह पर वे मान गये और छ: महीने बाद उन्होंने वह क्रिया दुबारा करके दिखलाई।

उन्होंने एक मानव अस्थिपंजर मंगवाया और उसे सबके सामने लिटा दिया। वे तीन दिन तक उन मांसहीन हड्डियों में नीबू मलते रहे। धीरे–धीरे उसमें मांस और चमड़ी प्रकट हो गई। उसके बाद उन्होंने उसमें प्राणशक्ति का संचार किया। जिससे वह नरकंकाल जीवित हो गया और ग्यारह दिन तक जिन्दा रहा। जिसे देख सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये। बाद में उन्हीं आर्यसमाजी मन्त्री महोदय ने अखबार में अपनी ओर से यह बयान दिया था कि–

''यह घटना बिल्कुल सत्य है और मैंने इसे अपनी आँखों देखा है। योगी ने इस–इस प्रकार से नरकंकाल को जीवित किया था।''

प्रमाण के लिए हमने वह अखबार रख लिया था और अब भी हमारे सवांई आश्रम में ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा हुआ है।

अपने शरीर से अग्नि प्रकट करना —

आज से कुछ वर्ष पूर्व गंजडुडवारा नामक स्थान पर एक सिक्ख योगी ने अपने नाभिमण्डल से अग्नि को प्रकट करके अपना शरीर जला डाला था।

इस घटना की भी लोगों में बहुत चर्चा हुई थी। वे महात्मा काफी वृद्ध हो गये थे। लोग उनसे मजाक करते रहा करते थे– महात्मा जी! आपका शरर अब वृद्ध हो गया है, क्या आपके लिए लकड़ियाँ इकट्ठी कर लें? महात्मा जी भी हँसकर कह दिया करते थे नहीं, इसकी तुम्हें आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वे लोग फिर भी यही कहते थे कि लकड़ियाँ तो इकट्ठी करनी ही पड़ेंगी : चाहे आज कर लें चाहे चार दिन बाद करें। वे लोग नित्य प्रति ऐसा ही उपास किया करते थे।

एक दिन महात्मा जी ने उनसे कहा– बोलो तो हम कल चले जायें। लेकिन तुम्हें लकड़ियाँ इकट्ठी करने की आवश्यकता नहीं है।

वे लोग बोले– यह कैसे हो सकता है? क्या जाना आपके हाथ की बात है?

महात्मा जी ने कहा– हाँ! हमारे साथ की ही बात है। हम कल चले जायेंगे।

अगले दिन निश्चित समय पर वे पद्मासन लगाकर बैठ गये। योगरीति से प्राणों को ब्रह्माण्ड में चढ़ाया और अपनी नाभि से योगाग्नि को प्रकट कर दिया। लोगों ने देखा उनकी नाभि से अग्नि की लपटें उठीं और उनके शरीर के चारों ओर घूमने लगीं। देखते देखते उन लपटों ने महात्मा जी के शरीर को जला डाला और शान्त हो गयीं।

इस प्रकार उस योगी ने ''समान जयाज्ज्वलनम्'' के सिद्धान्त को प्रमाणित कर दिखाया।

दूरदर्शन का उदाहण —

हमारा एक बच्चा था जो कि अब नहीं है। उसका नाम था संसारसिंह। वह सादे वेश में रहा करता था। उसने प्राणायाम का अभ्यास किया। जिसके फलस्वरूप उसके अन्दर यह योग्यता आ गई थी कि वह दूर–दूर की बातों को देख लिया करता था तथा किसी व्यक्ति की आकृति को देखकर वह यह जान जाता था कि वह व्यक्ति कौन है, कहाँ से आया है और क्या करता है? इत्यादि।

एक समय की घटना है। एक डॉक्टर उसके सामने से गुजरा। अचानक उसके मन में यह जिज्ञासा हुई कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है? ज्योंही उसने विचार करना शुरू किया, सारी बातें उसके सामने आने लगी– वह डॉक्टर है, अमृतसर का रहने वाला है, इसके दो लकड़े हैं, वे अभी छत पर खेल रहे थे। खेलते–खेलते अचानक उनमें से एक नीचे गिर गया है। ये सभी दृश्य एक के बाद एक उसके सामने आते रहे। बच्चे को नीचे गिरता देख उसने घबराकर आंखें खोलीं और उस व्यक्ति को बुलाया। तेज छिपाये नहीं छिपता। डॉक्टर ने आते ही उसे प्रणाम किया और कहा— महाराज जी आपने मुझे क्यों बुलाया?

योगी संसारसिंह ने कहा– तुम डॉक्टर हो? उसने कहा– हां महाराज! उसने फिर प्रश्न किया– अमृतसर के रहने वाले हो? डॉक्टर आश्चर्यचकित होकर बोला– हाँ! अमृतसर का ही रहने वाला हूँ, किन्तु बात क्या है?

संसारसिंह ने कहा— कोई खास बात कुछ नहीं। हमारी तुम पर दृष्टि पड़ गई थी, फिर तुम्हारे संस्कार सामने आ गये। हमने अभी तुम्हारे दोनों लड़के छत पर खेलते हुए देखे। खेलते खेलते उनमें से एक नीचे गिर गया है, किन्तु उस पर हमारी दृष्टि पड़ गई है। अत: अब उसका बिगड़ेगा कुछ नहीं। तुम्हारा टेलीफोन आने वाला है। तुम उसे सुन लो और निश्चित होकर घर चले जाओ।

इतने में ही उसका टेलीफोन आ गया। डॉक्टर ने टेलीफोन सुना। जिसमें बच्चे के गिर जाने की ही सूचना थी।

परकाय–प्रवेश —

श्री शंकराचार्य जी की मण्डनमिश्र के साथ शास्त्रार्थ वाली घटना सर्व विदित है। जिसमें उन्होंने मण्डनमिश्र की पत्नी विद्याधरी को कामशास्त्र विषय पर हराने के लिए एक मृत युवा राजा के शरीर में प्रवेश किया और छ: महीने तक उस शरीर में रहकर कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था। फिर अपने पूर्व शरीर में लौटकर विद्याधरी के साथ कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ किया और उसे परास्त कर उसे तथा उसके पति मण्डन मिश्र को अपना शिष्य बनाया।

इसी प्रकार से कुछ वर्ष पूर्व कश्मीर में एक योगी ने अपना वृद्ध शरीर छोड़ दिया और किसी मृत युवा मुसलमान के शरीर में प्रवेश किया तथा काफी समय तक वे उस शरीर में बने रहें।

योगिराज जलन्धरनाथ द्वारा गोपीचन्द्र जी की मृत बहन को जल छिड़ककर जीवित करना, योगी गोरक्षनाथ द्वारा मिट्टी के खिलौने में प्राणशक्ति का संचार करना आदि घटनायें जनसाधारण में बहुचर्चित हैं।

इस प्रकार योगी ''कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'' की सामर्थ्य वाले हुआ करते हैं। उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

अत: हर व्यक्ति को योगी बनने का प्रयत्नं करना चाहिए।श्री शंकराचार्य जी की मण्डनमिश्र के साथ शास्त्रार्थ वाली घटना सर्व विदित है। जिसमें उन्होंने मण्डनमिश्र की पत्नी विद्याधरी को कामशास्त्र विषय पर हराने के लिए एक मृत युवा राजा के शरीर में प्रवेश किया और छ: महीने तक उस शरीर में रहकर कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था। फिर अपने पूर्व शरीर में लौटकर विद्याधरी के साथ कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ किया और उसे परास्त कर उसे तथा उसके पति मण्डन मिश्र को अपना शिष्य बनाया।

इसी प्रकार से कुछ वर्ष पूर्व कश्मीर में एक योगी ने अपना वृद्ध शरीर छोड़ दिया और किसी मृत युवा मुसलमान के शरीर में प्रवेश किया तथा काफी समय तक वे उस शरीर में बने रहें।

योगिराज जलन्धरनाथ द्वारा गोपीचन्द्र जी की मृत बहन को जल छिड़ककर जीवित करना, योगी गोरक्षनाथ द्वारा मिट्टी के खिलौने में प्राणशक्ति का संचार करना आदि घटनायें जनसाधारण में बहुचर्चित हैं।

इस प्रकार योगी ''कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'' की सामर्थ्य वाले हुआ करते हैं। उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

अत: हर व्यक्ति को योगी बनने का प्रयत्नं करना चाहिए।

सिद्धकृपा-कब और कैसे?

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

यह हम बता ही चुके हैं कि सिद्धों की दो श्रेणियां हैं- साधनसिद्ध और अनादिसिद्ध। दोनों की कृपायें समान रूप से अधिकारी व्यक्ति पर हुआ करती हैं। एक ओर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, भगवती जगदम्बा आदि नामों से अनादिसिद्ध ईश्वर कृपा करते हैं तो दूसरी ओर उसी ऐश्वर्य से सम्पन्न सिद्ध योगिराज अपने भक्तों पर कृपायें किया करते हैं और जनसाधारण का कल्याण करते हैं।

ये कृपायें कब, क्यों और किस प्रकार हुआ करती हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर योगयोगेश्वर (योग के और योगियों के ईश्वर) श्रीकृष्ण ने इन श्लोकों में स्पष्ट कर दिया है—

मच्चित्ता: मद्गतप्राणा:
बोधयन्त: परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं
तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां
भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं
येन मामुपयान्ति ते।।

मुझ परमेश्वर में निरन्तर मन लगाने वाले और मेरे में ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन सदा मेरी भक्ति की चर्चा द्वारा आपस में मेरे प्रभाव का वर्णन करते हुए तथा मेरा गुणगान करते हुए ही सन्तुष्ट रहते हैं और मुझ ईश्वर में ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्वज्ञान रूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये-

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न संशय:।।

इसलिए हे अर्जुन! तू मुझ में मन लगा, मेरे में बुद्धि को लगा। ऐसा करने पर इसके उपरान्त तू मुझ में ही निवास करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

जब साधक उपरोक्त प्रकार से परमात्मा को आत्म-समर्पण कर देता है तो उस पर उस सर्व-शक्तिमान परमात्मा की कृतायें बरसती ही रहती हैं। परमात्मा कौन? वह आदि-योगी जिसके लिए शास्त्रों में कहा गया है-

अपाणिपादो जवनोगृहीता।
पश्यत्यचक्षु: स शृणोत्यकर्ण:।।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता।
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

तथा-

बिनु वाणी वक्ता बड़ जोगी।

वह ईश्वरी बड़ा योगी है और अपने योगेश्वर्य से ही भक्तजनों पर कृपा किया करता है। उस कृपा को पाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने इष्टदेव में अनन्यनिष्ठा रखे और स्वाध्यायपरायण रहे। योगदर्शन में एक सूत्र आता है—

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोग:।
देवा: सिद्धा: ऋषयश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्यें चास्य वर्तन्ते इति।

अर्थात् देवता, सिद्ध और ऋषिलोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के पास जाकर उसे दर्शन देते हैं और पर कृपा करते हुए उसके सभी कार्य कर दिया करते हैं।

स्वाध्याय द्वारा सिद्धकृपा —

स्वाध्याय परायण व्यक्ति पर सिद्ध लोग किस प्रकार कृपायें किया करते हैं इस सम्बन्ध में एक घटना मुझे याद आ रही है और वह इस प्रकार है—

आज से कुछ वर्ष पहले ज्योतिप्रकाश आश्रम नामक एक जिज्ञासु व्यक्ति सिद्धों के दर्शनार्थ ऋषिकेश से चलकर गंगाजी के तटवर्ती वनों को पार करते हुए घोर जंगल में पहुँच गये और कई दिनों तक भूखे-प्यासे वहां भटकते गये और कई दिनों तक भूखे-प्यासे वहां भटकते रहे। उनकी दयनीय स्थिति पर द्रवित होकर एक ब्रह्मचारी जी उनके सामने प्रकट हुए और पूछा तुम कौन हो और कहां से आये हो? स्वामी ज्योतिप्रकाश आश्रम ने उत्तर दिया— महाराज! मेरा नाम ज्योति प्रकाश आश्रम है और